Chapter- 2

द्वितीय अध्याय

✳ अध्याय - 2 ✳

समय के निकष पर मोहन राकेश के नाटक :

(i) मोहन राकेश के नाटकों में समय के विविध आयाम :

मोहन राकेश स्वातंत्र्योत्तर भारत के उन प्रमुख रचनाकारों में से थे जिन्होंने अपने समय और समाज का बारीकी से अवलोकन करते हुए उसके विविध रूपों को अपनी रचनाओं में अभिव्यक्त किया है। दरअसल कोई भी कला मूलतः अपने समय और समाज का एक संश्लिष्ट उत्पाद होती है। अतः स्वाभाविक है कि अपने समय, समाज और राष्ट्र की अनुभूतियों की गूँज उसमें विद्यमान हो। कोई भी व्यक्ति या कलाकार विश्व का आभ्यन्तरीकरण एक विशेष परिवार, धर्म, समाज के अन्तर्गत ही करता है, इस विशेष अर्थ में मनुष्य का अन्तर्जगत ऐतिहासिक और सामाजिक शक्तियों द्वारा निर्मित होता है और यह शक्तियाँ सामाजिक सांस्कृतिक परंपरा के रूप में, संस्कार और जीवन-मूल्यों के रूप में प्रत्येक मनुष्य के अन्तःकरण में कार्य करती हैं। मनुष्य इन सब परिस्थितियों से क्रिया-प्रतिक्रिया करता हुआ बाह्य विश्व को अपने अनुकूल तथा स्वयं को विश्व के अनुकूल बनाने का प्रयत्न करता है। इस तरह मनुष्य की वास्तविक जीवन-यात्रा एक विशेष परिवार, वर्ग, समाज, और राष्ट्र के द्वारा निर्मित मूल्यों के साथ होती है और यह किसी भी व्यक्ति या कलाकार के अंतःकरण के नियामक तत्व होते हैं। इसलिए यह अत्यंत स्वाभाविक है कि प्रत्येक व्यक्ति या कलाकार अपनी परंपरा, संस्कार और मूल्यबोध के आधार पर अपने समय और परिवेश के साथ तादात्म्य स्थापित कर रचना कर्म में प्रवृत्त हो। इस तरह कोई भी कला सार्वकालिक और विश्वात्मक होते हुए भी समय और समाज से विच्छिन्न नहीं हो सकती। उसका विश्वात्मक रूप उसके देशी स्वरूप का ही विकास है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि साहित्य या कला बिना कालजीवी हुए कालजयी नहीं हो सकती। जो रचना अपने समय और समाज के स्पन्दनों को पूरी ईमानदारी के साथ उद्घाटित नहीं कर सकती वह कला श्रेष्ठ होते हुए भी प्रामाणिक नहीं हो सकती। इस संदर्भ में प्रसिद्ध रचनाकार मुक्तिबोध की यह टिप्पणी अत्यंत सार्थक जान पडती है।

"मात्र भावोत्तेजित करने वाली कला हमारे वास्तविक जीवन-पथ के लिए मूल्यवान भी हो, यह आवश्यक नहीं है। हमारे लिए मूल्यवान कला वह है, जिसमें मार्मिक जीवन-विवेक, सूक्ष्म-दृष्टियों तथा जीवन के वास्तविक पक्षों का उद्घाटन हो।"[1]

मुक्तिबोध का उपरोक्त वक्तव्य प्रामाणिक रचना के आधारभूत सिद्धांत को स्पष्ट करता है। मोहन राकेश की भी ऐसी ही मान्यता थी कि किसी भी सच्ची रचना में समय, स्थान और काल के संदर्भ से बने व्यक्ति के विविध प्रभावों और स्पंदनो की अभिव्यक्ति आवश्यक है। यदि किसी रचना में उस समय का समाज और जीवन स्थितियाँ रुपायित नहीं है तो वह रचना महत्वपूर्ण होते हुए भी जेन्यूइन नहीं हो सकती । इसका कारण यह है कि किसी भी रचनाकार के लिए उसका परिवेश उसके संस्कार बनकर उसके दृष्टिकोण को निर्मित करता है। उसी परिवेश में साँस

लेकर वह बड़ा होता है अतः देशकाल और समय के अनेक रंगो की अभिव्यक्ति स्वाभाविक है। इस संदर्भ में मोहन राकेश का निम्नलिखित वक्तव्य द्रष्टव्य है :

"इतिहास स्थान, समाज और व्यक्ति-निरपेक्ष नहीं होता है, हालाँकि सार्वकालिकता का नारा लगाने वाले लोग ऐसा ही कहते है, लेकिन मैं उनके मत से सहमत नहीं हूँ।

मेरे निकट सार्त्र और कामू इसलिए 'जेन्युइन' हैं, क्योंकि उन्होंने अपने समय और परिवेश से ग्रहण कर, उसे आत्मसात कर अभिव्यक्त किया है। कामू भारतीय जीवन को लेकर 'आउट साइडर' नहीं लिख सकता था। और यह जैन्युनिटी समय और परिवेश के प्रति लेखक की ईमानदारी से ही पैदा होती है। यही कारण है कि 'शेखर: एक जीवनी' का अंकन अतिमानवीय लगता है। वह मुझे प्रामाणिक-जैन्युइन-नहीं लगता, क्योंकि शेखर मूलतः इस मिट्टी से संबद्ध नहीं है।

हाँ, यहीं पर एक बात स्पष्ट कर देना शायद समीचीन होगा - और वह यह कि आंचलिकता और यूनीवर्सेलिटी आपस में विरोधी 'टर्म' नहीं हैं, यूनीवर्सेलिटी में एप्रीसियेशन भी रहता है और एसीमिलेशन भी। यही कारण है कि एक प्रबुद्ध संस्कारशील व्यक्ति किसी भी देश की कलाओं - फाइन आर्ट्स - का आस्वादन कर सकता है और आप्लवित हो सकता है।

अपनी बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिए 'मैला आँचल' का उदाहरण देना चाहता हूँ। मुझे लगता है कि इतना 'रीजनल' होते हुए भी उसमें अपनी 'युनीवर्सैलिटी' है। - और मुझे तो यह भी लगता है कि रेणु वारसा के किसी गाँव को संवेदन के उस स्तर पर लेकर उसे अभिव्यक्ति नहीं दे सकते थे।"[2]

मोहन राकेश का उपरोक्त वक्तव्य यह स्पष्ट कर देता है कि उनकी रचनाओं का केन्द्रीय सरोकार अपने समय की समस्याओं एवं जीवन स्थितियों को अभिव्यक्त करना रहा है। उनके अनुसार रचनात्मकता एक महायात्रा की तरह है जिसमें व्यक्ति अपने अन्तर्मन से शुरू कर विश्व की यात्रा करता है, व्यक्ति, अंचल, राष्ट्र इन मंजिलों को तय किये बिना कोई विश्वजनीन नहीं हो सकता। 'धर्मयुग' द्वारा आयोजित एक विशेष परिचर्चा में राकेश ने अपनी इस धारणा को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि :

"वास्तव में कला-साधना एक महायात्रा है। व्यक्ति से विश्व की ओर। लेकिन इस यात्रा के बीच की मंजिल है, हमारे वे निजी धरेलू या पारिवारिक संस्कार, उसके आगे हमारे अंचल या प्रदेश के संस्कार, उसके आगे हमारे राष्ट्रीय संस्कार उसके आगे भी वे संस्कार जो समस्त मानव जाति के हैं। व्यक्ति, अंचल, राष्ट्र इन मंजिलों को तय किये बिना कोई विश्वजनीन नहीं हो सकता। जो लोग सीधे विश्वजनीन होना चाहते हैं वे भ्रम में पड़े हैं। टॉलस्टाय का 'युद्ध और शांति', महान और विश्वजनीन इसीलिए है कि वह अपनी ज़मीन और जमाने के प्रति बिलकुल सच्चा है।"[3]

राकेश के उपरोक्त वक्तव्य से स्पष्ट है कि उनके लिए लेखन का असली मानदंड यह था कि उसमें अपने समय और परिवेश की मनःस्थिति को कितना अभिव्यक्त किया गया है। उनकी अधिकांश रचनाएँ स्वातंत्र्योत्तर भारत में लिखी गयीं। लगभग 1950 से उन्होंने अपनी रचना-यात्रा की शुरूआत की तथा अपनी मृत्यु तक वह अनवरत लिखते रहे, लेकिन अपनी रचना-यात्रा के दौरान उन्होंने बदलते हुए समाज और मनुष्य से अपना संवाद बरकरार रखा । यही कारण है कि लगभग 22 वर्षों तक लगातार सृजनरत रहने के बावजूद वह कभी पुराने नहीं पड़े बल्कि समय बीतने के साथ-साथ उनकी रचनाओं की प्रासंगिकता बढ़ती ही गई है।

राकेश रचनाकारों की उस पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करते हैं जिन्होंने स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद अपने रचना कर्म की शुरूआत की थी । भारत - विभाजन एवं स्वाधीनता के बाद होने वाले भयानक सांप्रदायिक दंगों ने मानवीय मूल्यों को झकझोर कर रख दिया था। इसके अलावा स्वाधीनता के बाद देश में जो शासन व्यवस्था अपनाई गई वह साम्राज्यवादी शासन व्यवस्था से बुनियादी तौर पर भिन्न नहीं थी। गणतंत्र एवं जनता के मौलिक अधिकारों की घोषणा के बावजूद सामान्य जनता की स्थिति में कोई खास फर्क नहीं आया था। वह दमन और शोषण का वैसे ही शिकार थी जैसे पराधीन भारत में। अतः उस युग में रचनाकारों की एक संपूर्ण पीढ़ी ऐसी थी जो मोहभंग की मनःस्थिति से गुज़र रही थी। मुक्तिबोध ने 1953 में 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' शीर्षक द्वारा सांकेतिक ढंग से इस मोहभंग को अभिव्यक्त किया था। हरिशंकर परसाई ने 'सदाचार का तावीज', 'पगडंडियों का ज़माना', 'विकलांग श्रद्धा का दौर' इत्यादि गद्य कृतियों के माध्यम से उस युग के भ्रमों को अनावृत्त किया है। इस घटना बहुल एवं नाटकीय परिवर्तन वाले युग का अत्यंत सटीक विश्लेषण विख्यात व्यंगकार हरिशंकर परसाई ने इन शब्दों में किया है :

"वास्तव में यह दौर राजनीति में मूल्यों की गिरावट का था। इतना झूठ, फरेब, छल पहले कभी नहीं देखा था। दगाबाजी संस्कृति हो गई थी। दोमुँहापन नीति। बहुत बड़े-बड़े व्यक्तित्व बौने हो गए। श्रद्धा सब कहीं से टूट गई। .. .. भ्रष्ट राजनीतिक संस्कृति ने अपना असर सब कहीं डाला। किसी का किसी पर विश्वास नहीं रह गया था - न व्यक्ति पर, न संस्था पर। कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका का नंगापन प्रकट हो गया। .. .. यह विकलांग श्रद्धा का भी दौर था।"[4]

परसाई की तरह ही राकेश ने भी इस मोहभंग और सांस्कृतिक रिक्तता का उल्लेख अपनी रचनाओं में बार-बार किया है। विभाजन के बाद की स्थिति का उल्लेख करते हुए राकेश ने लिखा है :

"मेरा अपना विचार है कि विभाजन के संभवतः कुछ लाख लोग ही शिकार हुए, जबकि इस देश के विभाजन के बाद की परिस्थितियों के तो करोड़ों लोग शिकार हुए और जिसने हममें से अधिकांश को तो कहीं अन्दर-भीतर से खत्म करके भी रख दिया था। .. .. . हिन्दुस्तान का विभाजन एक राजनीतिक विपत्ति थी, इसे केवल विपत्ति ही नहीं कहना चाहिए। इसे एक 'राजनीतिक विपत्ति' कहना पड़ेगा। ..

.. . लेकिन यह तो एक परिस्थिति मात्र थी जबकि विभाजन के बाद जो कुछ हुआ वह एक साक्षात्कार था। हमें किसी परिस्थिति का नहीं बल्कि एक प्रक्रिया से साक्षात्कार करना था। और यह प्रक्रिया थी - जीवन के सभी पहलुओं में बढ़ता पतन। देश को गर्त में ले जाने वाले इस पतन से हमारे मूल्यों को ठेस नहीं पहुँची थी, बल्कि हमें जीवन की डोर हाथों से फिसलती-सी लग रही थी। रोजमर्रा की जिन्दगी कहीं अधिक पराजित-सी लगती।"[5]

उपरोक्त उद्धरण के माध्यम से राकेश ने अपने समय की राजनीतिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों का स्पष्ट चित्रण किया है। मोहभंग और हताशा की इस स्थिति ने रचनाकर्म में यथार्थवादिता को जन्म दिया जो राकेश की रचनाओं का केन्द्रीय सरोकर है। एक सचेत रचनाकार एवं ईमानदार व्यक्ति होने के नाते राकेश की सभी रचनाओं में स्वातंत्र्योत्तर भारतीय युग की मनःस्थितियों और मूल्यों का विश्लेषण मिलता है। उनकी प्रतिबद्धता किसी विशेष विचारधारा के साथ नहीं बल्कि अपने समय के यथार्थ से थी। अपने समय और समाज के विविध रंगों को पूरी निष्ठा से अभिव्यक्त करने की अकुलाहट उनकी रचनाओं में बार-बार दिखाई देती है। समय के साथ लेखक के अनिवार्य रिश्ते का जिक्र करते हुए राकेश ने लिखा है कि :

"एक लेखक की प्रतिबद्धता किसी विशेष विचारधारा से नहीं होती, बल्कि वह अपने समय की उभरती हुई यथार्थता से जुड़ा होता है - ठीक मार्क्स की तरह। .. .. . लेखकों को अपने समय के उभरते हुए यथार्थ के साथ प्रतिबद्ध होना चाहिए, ठीक उसी तरह उसे समय के बदलते स्वरूप के साथ अपने लेखन और अपनी विचारधारा में भी तबदीली लानी होगी। मैं समझता हूँ कि यदि एक लेखक में यह प्रक्रिया समाप्त हो जाती है तो फिर वह एक लेखक के रूप में भी समाप्त हो जाता है क्योंकि फिर वह किसी न किसी के हाथ का शस्त्र भर बनकर रह जाता है, फिर चाहे वह हठधर्मी प्रगतिवादियों का हो या फिर हठधर्मी प्रतिक्रियावादियों का।"[6]

राकेश का उपरोक्त वक्तव्य यह स्पष्ट करता है कि यद्यपि यथार्थ चित्रण को वह किसी भी रचना के मूल्यांकन की कसौटी मानते थे लेकिन उनका यथार्थ जड़ यथार्थ नहीं था बल्कि निरंतर विकासशील यथार्थ था। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में किसी अखबार या रपट की तरह घटनाओं और स्थितियों का महज यथातथ्य चित्रण नहीं है बल्कि उन्हें बनानेवाली शक्तियों की पहचान का प्रयास भी है। राकेश की रचनाओं में सिर्फ मोहभंग, निराशा, अवसाद एवं अकेलेपन का ही वर्णन नहीं है, बल्कि इन स्थितियों के प्रति प्रतिकार का भाव भी है।

स्वाधीन भारत में जिस मोहभंग एवं मूल्यहीनता की स्थिति से आम आदमी आक्रांत रहा, उसका बहुविध चित्रण राकेश की अधिकांश रचनाओं में मिलता है। राजनीतिक-व्यवस्था के निरंतर मनुष्य विरोधी होते जाने से सामान्य मनुष्य निरंतर दयनीय और हताश होता गया। सभी बुनियादी समस्याओं को नेपथ्य में डालकर सत्ता के लिए जोड़तोड़ करना ही भारतीय राजनीति का एकमात्र उद्देश्य बन गया। इसने एक ऐसी स्थिति को जन्म दिया जिनमें लोग अधिकाधिक समझौतावादी और

मौकापरस्त होते चले गये। इस स्थिति ने आम मनुष्य को कहीं अंदर से बहुत ही हताश कर दिया था जिसका चित्रण उनके उपन्यासों और कहानियों में ही नहीं बल्कि उनके नाटकों में भी स्पष्ट रूप से मिलता है। यद्यपि राकेश के दोनों प्रारंभिक नाटकों की पृष्ठभूमि ऐतिहासिक है फ़िरभी इन नाटकों के माध्यम से इतिहास की व्याख्या करना नाटककार का लक्ष्य नहीं है बल्कि आधुनिक मनुष्य की बेचैनी और दुविधा को चित्रित करना ही इनका मुख्य सरोकार है। इस संदर्भ में राकेश का यह वक्तव्य अत्यंत सटीक जान पड़ता है :

"किन्तु मैं यह नहीं समझता कि धर्मवीर भारती, जगदीशचन्द्र माथुर और मैंने ऐतिहासिक नाटक इसलिए लिखे हैं क्योंकि हम इतिहास की व्याख्या करना चाहते हैं। या इसलिए कि हमें किसी काल-विशेष से लगाव था। न ही यह जयशंकर प्रसाद की तरह का किसी प्रकार का पुनरूत्थानवाद है। न ही यह किसी प्रकार का प्रतिक्रियावाद है। .. .. . मैं अपने बारे में तो निश्चिंत रूप से कह सकता हूँ कि मैंने एक शब्द भी ऐसा नहीं लिखा है जो वर्तमान से संबंधित नहीं है।"[7]

इस बात से यह स्पष्ट हो जाता है कि राकेश के नाटक चाहे ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर हों या समकालीन जीवन पर वह अपने समय और समाज से पूरी तरह जुड़े हुए हैं।

(ii) कलाकार और राजसत्ता :

कला और प्रेम, रचनाकार और राजसत्ता, सृजनशील व्यक्ति और परिवेश, भावना और कर्म, कल्पना और यथार्थ जैसे जीवनानुभव के समसामयिक आयाम राकेश के प्रथम नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' में विद्यमान हैं। यद्यपि ऊपरी तौर से देखने पर यह नाटक कवि कालिदास के जीवन से सम्बन्धित जान पड़ता है लेकिन नाटक का सूक्ष्म विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसमें मुख्य रूप से आज के लेखक की द्विविधाग्रस्त मानसिकता को अंकित किया गया है। स्वयं नाटककार के शब्दों में :

"मेरे विचार से आषाढ़ का एक दिन कालिदास के बारे में नहीं है। .. .. . मैं इस नाटक में आज के लेखक की द्विविधा को चित्रित करना चाहता था - लेखक जो राज्य या इसी प्रकार की अन्य संस्थाओं द्वारा प्रस्तावित लोभ के प्रति आकर्षित होता है और दूसरी ओर कहीं अपने प्रति प्रतिबद्ध भी होता है। और इसके लिए बेचारे कालिदास को बेकार ही नाटक में खींच कर ले आया गया और मैंने अधिकार-क्षेत्र के लिए उनके ऊँचे स्थान से उन्हें थोड़ा गिरा भी दिया। लेकिन नाटक समकालीन मानस के बारे में ही है। .. .. . कालिदास मेरे लिए एक व्यक्ति नहीं, हमारी सृजनात्मक शक्तियों का प्रतीक है, नाटक में यह प्रतीक उस अन्तर्द्वन्द्व को संकेतित करने के लिए है जो किसी भी काल में सृजनशील प्रतिभा को आन्दोलित करता है।

.. .. . मुख्य बात यह है कि हर काल में बहुतों को उसमें से गुज़रना पड़ा है, हम भी आज उसमें से गुज़र रहे हैं।"[8]

स्पष्टतः 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक में राकेश ने राजसत्ता और कलाकार के सम्बन्धों पर गहराई से विचार किया है। अधिकांशतः यह देखा गया है कि राजसत्ता का उपभोग रचनाकार के व्यक्तित्व और विचारों की स्वतंत्रता को बाधित करता है और उस पर इस तरह का प्रभाव डालता है कि एक लेखक के रूप में वह धीरे-धीरे कुन्द होने लगता है। जीवन के सहज सौंदर्य से व्यक्ति वंचित हो जाता है और अधिकार और दर्प से समन्वित कृत्रिम जीवन जीने के लिए विवश हो जाता है जो कालिदास अपने जीवन के प्रारंभिक दिनों में वन्य-प्रान्तर में निर्द्वन्द्व घूमा करता था, हरिण शावकों के साथ अपना जीवन बिताता था प्रकृति के सौंदर्य एवं जीवन की सहजता को निःसंकोच भाव से ग्रहण करता था, वही कालिदास कश्मीर का शासक बनने के बाद अपनी जड़ों से विस्थापित हो जाता है। जिस वन्य प्रान्तर में कालिदास के आरंभिक जीवन का विकास हुआ था उसी के लिए अब उसके पास समय नहीं होता। प्रियंगुमंजरी एवं मल्लिका के बीच का संवाद कालिदास की इस विडम्बनापूर्ण स्थिति को उद्‌घाटित करता है :

"मल्लिका : हमारा सौभाग्य होगा कि आप कुछ दिन इस प्रदेश में रह जायें। यहाँ आपको असुविधा तो होगी, परन्तु .. .. .।

प्रियंगुमंजरी फिर विदग्ध भाव से उसे देखती है।

प्रियंगुमंजरी : इस सौंदर्य के सामने जीवन की सब सुविधाएँ हेय हैं। इसे आँखों में व्याप्त करने के लिए जीवन-भर का समय भी पर्याप्त नहीं। परन्तु इतना अवकाश कहाँ है ? काश्मीर की राजनीति इतनी अस्थिर है कि हमारा एक-एक दिन वहाँ से दूर रहना कई-कई समस्याओं को जन्म दे सकता है। .. .. . एक प्रदेश का शासन बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है। हम पर तो और भी बड़ा उत्तरदायित्व है क्योंकि काश्मीर की स्थिति इस समय बहुत ही संकटपूर्ण है। यूँ वहाँ के सौंदर्य की ही इतनी चर्चा है, परन्तु हमें उसे देखने का अवकाश कहाँ रहेगा ?

इसलिए तुमसे स्पर्धा होती है। सौंदर्य का यह सहज उपभोग हमारे लिए केवल एक सपना है।"[9]

प्रियंगुमंजरी का यह वक्तव्य राजसत्ता और कलाकार के द्वन्द्वात्मक संबंध विधान को बड़े ही प्रामाणिक ढंग से व्यक्त करता है। एक लेखक का कार्यक्षेत्र और एक राज्याधिकारी का कार्यक्षेत्र बिलकुल अलग-अलग होते हैं और अधिकांशतः इन दोनों क्षेत्रों में तालमेल स्थापित कर पाना मुश्किल होता है। राज्याधिकारी का मुख्य सरोकार राज्यसत्ता को बनाए रखना होता है और इसलिए जीवन की बाकी सभी संवेदनाएँ उसके लिए गौण होती हैं जबकि एक रचनाकार के लिए मानव जीवन की सहज संवेदना ही मूल्यवान होती है। यदि सत्ता पाने के बाद भी एक लेखक अपनी रचना के प्रति प्रतिबद्ध रह सके तो निश्चय ही राजसत्ता और कलाकार के जीवन में

विरोधाभास प्रस्तुत नहीं होता। लेकिन सामान्यतः ऐसा नहीं हो पाता है क्योंकि राज्याधिकारी के इर्द-गिर्द चाटुकारिता और झूठी प्रशंसा का जाल कुछ इस तरह बुना होता है कि उसे तोड़ पाना असंभव नहीं किन्तु मुश्किल जरूर होता है। कालिदास के माध्यम से राकेश ने रचनाकार के इसी मूलभूत द्वन्द्व को रूपायित किया है। कश्मीर का शासक बनने के बाद कालिदास को अधिकार सुख और सम्मान तो बहुत मिलता है लेकिन सहज मानवीय संवेदनाओं और प्राकृतिक सौंदर्य से उसका तादात्म्य टूट जाता है। एक रचनाकार के लिए जो बुनियादी चीज़ है उसी से अलग हो जाना निश्चित रूप से रचनाकार के व्यक्तित्व को खंडित करता है। इस स्थिति का बहुत ही प्रभावशाली चित्रण कालिदास के निम्नलिखित संवाद द्वारा किया गया है:

"अधिकार मिला, सम्मान बहुत मिला, जो कुछ मैंने लिखा उसकी प्रतिलिपियाँ देश भर में पहुँच गयीं, परन्तु मैं सुखी नहीं हुआ। किसी और के लिए वह वातावरण और जीवन स्वाभाविक हो सकता था, मेरे लिए नहीं था। एक राज्याधिकारी का कार्यक्षेत्र मेरे कार्यक्षेत्र से भिन्न था। मुझे बार-बार अनुभव होता कि मैंने प्रभुता और सुविधा के मोह में पड़कर उस क्षेत्र में अनधिकार प्रवेश किया है, और जिस विशाल में मुझे रहना चाहिए था उससे दूर हट आया हूँ। जब भी मेरी आँखें दूर तक फैली क्षितिज रेखा पर पड़तीं, तभी यह अनुभूति मुझे सालती कि मैं उस विशाल से दूर हट आया हूँ । मैं अपने को आश्वासन देता कि आज नहीं तो कल मैं परिस्थितियों पर वश पा लूँगा और समान रूप से दोनों क्षेत्रों में अपने को बाँट दूँगा। परन्तु मैं स्वयं ही परिस्थितियों के हाथों बनता और चालित होता रहा। जिस कल की मुझे प्रतीक्षा थी, वह कल कभी नहीं आया और मैं धीरे-धीरे खण्डित होता गया, होता गया। और एक दिन .. .. . एक दिन मैंने पाया कि मैं सर्वथा टूट गया हूँ। मैं वह व्यक्ति नहीं हूँ जिसका उस विशाल के साथ कुछ भी सम्बन्ध था।"[10]

कालिदास का यह कथन सिर्फ गुप्तकालीन कालिदास की विडम्बनापूर्ण स्थिति का ही उद्‌घाटन नहीं है, बल्कि यह किसी भी युग में एक सृजनशील व्यक्ति और सत्ता के बुनियादी विरोधाभास को स्पष्ट करता है। सत्ता का लोभ कलाकार को अपनी ओर खींचता है और ना - ना करते हुए भी वह इस लोभ का संवरण नहीं कर पाता, किन्तु सत्ता पा लेने पर भी वह संतुष्ट नहीं होता क्योंकि तब वह जान जाता है कि अधिकार सुख मादक तो है पर सारहीन भी। राजसत्ता और रचना मूलतः एक दूसरे के विरोध में खड़े होते हैं क्योंकि किसी भी सत्ता का सारा अभिप्राय सामान्य मनुष्य की स्वतंत्रता को कम करना होता है, वर्ना राजसत्ता का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जायेगा। यदि सत्तानीति द्वारा सामान्य मनुष्य के अधिकारों और स्वतंत्रता को सीमित नहीं किया गया तो प्रत्येक की राज्य चलाने में बराबर की हिस्सेदारी होगी और ऐसी स्थिति में सत्ता की जरुरत ही समाप्त हो जाएगी। यही कारण है कि प्रत्येक रचना सत्ता के खिलाफ होती है क्योंकि वह मनुष्य की स्वतंत्रता और मूल अधिकारों की पक्षधर होती है।

(iii) सृजनशील व्यक्ति और परिवेश :

राजसत्ता और रचनाकार के द्वन्द्वात्मक संबंध-विधान के अतिरिक्त 'आषाढ़ का एक दिन' में नाटककार ने सृजनशील व्यक्ति और परिवेश के संबंधों पर भी विचार किया है। किसी भी कला के सृजन में परिवेश की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण होती है। अपनी जड़ों और समाज से विस्थापित रचनाकार किसी श्रेष्ठ कृति का सृजन नहीं कर सकता क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति मूलतः अपने युग और अपने समाज की संतति होता है। इस संदर्भ में प्रख्यात लेखिका नादिन गार्डिमर की यह मान्यता अत्यंत संगत जान पड़ती है कि :

"हम अपने युग की ही नहीं, स्थान की भी संतति हैं। मेरा स्वयं का चेतन और अवचेतन, जिसमें मैं लिखती हूँ, यहाँ तक कि मन और मस्तिष्क के वे व्यक्तिगत पक्ष भी, उस नियति द्वारा निर्धारित हुए हैं जिन्हें उस ऐतिहासिक राजनैतिक पृष्ठभूमि ने रूपायित किया है जिसमें मैं पैदा हुई हूँ।"[11]

कोई भी रचना अपने परिवेश से पूर्णतः मुक्त नहीं हो सकती और प्रामाणिक साहित्य के सृजन के लिए यह आवश्यक है कि लेखक का उस परिवेश और मानव जीवन से गहरा तादात्म्य हो। एक अजनबी परिवेश और दूसरों के जीवनानुभव पर आधारित रचना प्राणवान नहीं हो सकती।'आषाढ़ का एक दिन' में राकेश ने परिवेश के इस महत्व को कालिदास के माध्यम से व्यक्त किया है। अपने ग्राम्य-प्रांतर से विस्थापित होने के बाद कालिदास ने जो कुछ भी लिखा वह उनके पूर्व-जीवन का ही संचय था क्योंकि विदेशी भूमि और वहाँ का जीवन उनके लिए अजनबी ही बना रहा। अपने आस-पास के जीवन के यथार्थ को प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त करने के लिए यह आवश्यक है कि रचनाकार अपने आपको उसका हिस्सा बनाये। अपने इर्द-गिर्द के जीवन और समाज को अनुभूति का अनिवार्य हिस्सा बनाए बगैर कोई भी रचना सशक्त नहीं होती। आषाढ़ का एक दिन के कालिदास में अपनी जड़ों से विच्छिन्न हो जाने की पीड़ा बार-बार दिखाई पड़ती है। नाटक में कालिदास की पत्नी प्रियंगुमंजरी लगातार यह चेष्टा करती है कि कालिदास का मन अस्थिर न हो। उन्हें रह-रह कर अपने परिवेश की याद न सताये इसलिए वह कालिदास को प्रसन्न करने के लिए उनके समस्त वातावरण को हठ कर उज्जयिनी ले जाने का हास्यास्पद प्रयत्न करती है। हालाँकि वह स्वयं भी जानती है कि यह कारगर नहीं होगा पर इससे स्पष्ट होता है कि जड़ों से कटा हुआ व्यक्ति अलग-थलग परिवेश में रह तो सकता है पर विकास नहीं कर पाता, जिसे कालिदास का निम्नलिखित संवाद संपूर्ण तौर पर उभारने में सफल हुआ है :

"लोग सोचते हैं मैंने उस जीवन और वातावरण में रह कर बहुत कुछ लिखा है। परन्तु मैं जानता हूँ कि मैंने वहाँ रहकर कुछ नहीं लिखा। जो कुछ लिखा है वह यहाँ के जीवन का ही संचय था। 'कुमारसम्भव' की पृष्ठभूमि यह हिमालय है और

तपस्विनी उमा तुम हो। 'मेघदूत' के यक्ष की पीड़ा मेरी पीड़ा है और विरह-विमर्दिता यक्षिणी तुम हो - यद्यपि मैंने स्वयं यहाँ होने और तुम्हें नगर में देखने की कल्पना की। .. .. . मैंने जब-जब लिखने का प्रयत्न किया तुम्हारे और अपने जीवन को फिर-फिर दोहराया। और जब उससे हटकर लिखना चाहा, तो रचना प्राणवान नहीं हुई।"[12]

कालिदास का उपरोक्त वक्तव्य सृजनशील व्यक्ति और परिवेश के अंत:सबंधों को अत्यंत प्रभावी ढंग से विश्लेषित करता है। यह प्रश्न केवल कालिदास या राकेश के युग का नहीं है बल्कि यह सार्वकालिक और सार्वभौमिक है जो प्रत्येक रचनात्मक प्रतिभा को आंदोलित करता है। इस रूप में 'आषाढ़ का एक दिन' अपने समय और परिवेश से अविच्छिन्न रूप से जुड़े होकर भी उसका अतिक्रमण करता है। समाज और समय का प्रभाव होते हुए भी उसकी विश्वात्मक अपील लुप्त नहीं होती और इस तरह रचना एक खास कालखंड में जीते हुए भी अंततः उसका अतिक्रमण करती है और कालजयी हो जाती है।

(iv) आषाढ़ का एक दिन में अभिव्यक्त समकालीन जीवन के अन्य सरोकार :

इस नाटक में रचनाकार ने समकालीन जीवन के एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू मध्यवर्गीय महत्वाकांक्षा को भी कलात्मक ढंग से अंकित किया है। स्वाधीनता के बाद के भारतीय समाज में एक आम मध्यवर्गीय व्यक्ति भौतिक सुखों की ओर सहज ही आकृष्ट होता है क्योंकि ये चीजें उसके जीवन में आसानी से उपलब्ध नहीं है, इसके कारण सभी प्रकार के भौतिक पदार्थों तथा सत्ता एवं अधिकार को प्राप्त करने की प्रवृत्ति उसमें अनायास ही आ जाती है। अभावग्रस्त जीवन की यह एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया है जिसे राकेश ने कालिदास के चरित्र के माध्यम से कुशलतापूर्वक व्यक्त किया है। इस मध्यवर्गीय प्रवृत्ति का खुलासा करते हुए राकेश ने लिखा है :

"एक मध्यवर्गीय व्यक्ति को मैं उसकी उस मानसिकता या सचेतता से पहचानता हूँ जिसके कारण कि आजकल वह स्वयं को ऊँचा दिखाने, दिखावटी प्रतिष्ठा के पीछे दौड़ने और सभी प्रकार के भौतिक पदार्थों को प्राप्त करने के लिए संघर्ष में जुटा रहता है, चाहे इन सुखों को पाने के लिए किसी भी हद तक जाना पड़े। मेरे विचार में आम आदमी का चाहे वह किसी भी वर्ग का क्यों न हो और लगभग सभी स्थानों पर आदर्श अब यही बन चुका है।"[13]

भौतिक पदार्थों के संचय और दिखावटी प्रतिष्ठा के प्रति दुर्निवार आकर्षण स्वातंत्र्योत्तर भारतीय मध्यवर्ग की एक सामान्य विशेषता रही है जिसे नाटककार ने कालिदास के चरित्र के माध्यम से चित्रित किया है। यह प्रवृत्ति अकारण नहीं है

बल्कि अभावग्रस्त और अपनी निजी पहचान बनाने में असमर्थ व्यक्ति की परिस्थितियों के साथ स्वाभाविक प्रतिक्रिया है।

समकालीन जीवन के इस महत्वपूर्ण पहलू को कालिदास का निम्नलिखित संवाद प्रामाणिक ढंग से अभिव्यक्त करता है :

"मैंने बहुत बार अपने संबंध में सोचा है मल्लिका, और हर बार इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि अम्बिका ठीक कहती थी। .. .. . मैं यहाँ से क्यों नहीं जाना चाहता था ? एक कारण यह भी था कि मुझे अपने पर विश्वास नहीं था। मैं नहीं जानता था कि अभाव और भर्त्सना का जीवन व्यतीत करने के बाद प्रतिष्ठा और सम्मान के वातावरण में जाकर मैं कैसा अनुभव करूँगा। मन में कहीं यह आशंका थी कि वह वातावरण मुझे छा लेगा और मेरे जीवन की दिशा बदल देगा .. .. . और यह आशंका निराधार नहीं थी। तुम्हें बहुत आश्चर्य हुआ था कि मैं काश्मीर का शासन संभालने जा रहा हूँ ? तुम्हें यह बहुत अस्वाभाविक लगा होगा। परन्तु मुझे इसमें कुछ भी अस्वाभाविक प्रतीत नहीं होता। अभावपूर्ण जीवन की वह एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी। संभवतः उसमें कहीं उन सबसे प्रतिशोध लेने की भावना भी थी जिन्होंने जब-तब मेरी भर्त्सना की थी, मेरा उपहास उड़ाया था।"[14]

इस उद्धरण में कालिदास गुप्तकाल के रचनाकार से अधिक स्वाधीनता के बाद के मध्यवर्गीय व्यक्ति की आकांक्षा का प्रतिनिधि चरित्र बनकर उभरता है। नाटककार ने झूठी प्रतिष्ठा, प्रतिशोध की भावना, महत्वाकांक्षा एवं भौतिक सुखों की ओर सहज आकृष्ट होने की एक आम आदमी की प्रवृत्ति को इस नाटक में सफलतापूर्वक दर्शाया है।

आर्थिक विपन्नता का व्यक्ति पर पड़नेवाले प्रभाव एवं समाज में प्रतिष्ठा के महत्व जैसे मुद्दों पर भी इस नाटक में आनुषंगिक रूप से विचार किया गया है। ये प्रश्न सार्वकालिक भी है और समसामयिक भी। सिर्फ योग्यता किसी व्यक्ति को सफलता की सीढ़ी तक पहुँचाने के लिए पर्याप्त नहीं है बल्कि उसके साथ प्रतिष्ठा का योगदान आवश्यक है। इस सार्वजनीन सत्य को रचनाकार ने निक्षेप के संवाद के माध्यम से अत्यंत रोचक ढंग से अभिव्यक्त किया है। "कालिदास अपनी भावुकता में भूल रहे हैं कि इस अवसर का तिरस्कार करके वे बहुत कुछ खो बैठेंगे। योग्यता एक चौथाई व्यक्तित्व का निर्माण करती है। शेष पूर्ति प्रतिष्ठा द्वारा होती है।"[15]

यहाँ नाटककार ने समाज में प्रतिष्ठा के महत्व को स्पष्ट रूप से रेखांकित किया है जो किसी काल विशेष में नहीं बल्कि हरेक युग का स्वयं सिद्ध सत्य है। इसके साथ ही रचनाकार ने नाटक में 'अवसर' के महत्व को भी दर्शाया है। निक्षेप का निम्नलिखित वक्तव्य इस शाश्वत सत्य को मार्मिकता के साथ उद्‌घाटित करता है कि समय या अवसर किसी का इन्तज़ार नहीं करता : "अवसर किसी की प्रतीक्षा नहीं करता। कालिदास यहाँ से नहीं जाते हैं, तो राज्य की कोई हानि नहीं होगी। राजकवि का आसन रिक्त नहीं रहेगा। परन्तु कालिदास जो आज है, जीवन भर वही

रहेंगे - एक स्थानीय कवि ! जो लोग आज 'ऋतु-संहार' की प्रशंसा कर रहे हैं, वे भी कुछ दिनों में उन्हें भूल जाएँगे।"[16]

समय और प्रतिष्ठा का मानव जीवन और समाज में विशिष्ट महत्व है। इसका रेखांकन करने के साथ-साथ इस नाटक में एक अन्य बुनियादी मानवीय समस्या पर विचार किया गया है। आर्थिक विपन्नता या निर्धनता की समस्या एक ऐसी शाश्वत समस्या रही है जो हर युग में सृजनशील प्रतिभा को आंदोलित करती रही है। संस्कृत की एक प्रसिद्ध उक्ति है जिसमें कहा गया है कि जिसके पास धन है, वही व्यक्ति कुलीन है, वही विद्वान है, वही गुणज्ञ है, वही वक्ता है एवं वही दर्शनीय है - दुनिया के सभी गुण द्रव्य में समाहित हैं। धन के इस व्यापक महत्व एवं निर्धनता का व्यक्ति पर पड़ने वाले असर को राकेश ने मल्लिका के संवाद के माध्यम से अत्यंत सटीक रूप से अभिव्यक्त किया है :

"मैंने अपने भाव के कोष्ठ को रिक्त नहीं होने दिया। परन्तु मेरे अभाव की पीड़ा का अनुमान लगा सकते हो ? नहीं, तुम अनुमान नहीं लगा सकते, तुमने लिखा था कि एक दोष गुणों के समूह में उसी तरह छिप जाता है, जैसे चाँद की किरणों में कलंक, परन्तु दारिद्र्य नहीं छिपता। सौ-सौ गुणों में भी नहीं छिपता। नहीं, छिपता ही नहीं, सौ-सौ गुणों को छा लेता है - एक एक करके नष्ट कर देता है।"[17]

ये पंक्तियाँ सामाजिक जीवन में धन के महत्व तथा आर्थिक विपन्नता का व्यक्ति की मानसिकता पर पड़नेवाले प्रभाव को उजागर करती हैं। ये ऐसे मुद्दे हैं जो समकालीन होने के साथ-साथ सार्वजनीन भी हैं।

'आषाढ़ का एक दिन' नाटक में रचनाकार ने सत्ता की क्रूरता एवं विसंगति तथा शासक वर्ग की जड़ मानसिकता को भी उभारा है। दंतुल द्वारा कालिदास से किया गया दुर्व्यवहार एवं अंबिका का राज्याधिकारियों के बारे में यह कथन कि : 'जब भी ये दिखाई देते हैं कोई न कोई अनिष्ट होता है' - राज्य कर्मचारियों की क्रूरता एवं असंवेदनशील प्रवृत्ति को स्पष्ट करता है। इसी प्रकार अनुस्वार, अनुनासिक एवं रंगिणी-संगिणी का हास्यास्पद और विसंगत आचरण दिखाकर रचनाकार ने शासक वर्ग के दिमागी दिवालियेपन को तो दिखाया ही है उनकी काबीलियत और विवेक पर भी प्रश्नचिन्ह लगाया है। लकीर के फकीर की तर्ज पर कार्य करते ये राज्याधिकारी सिर्फ हँसी का पात्र ही नहीं बनते, उनका आचरण उस पूरी राज्य-व्यवस्था पर सवालिया निशान लगाता है जो उनके द्वारा संचालित होती है। उस कार्य की परिणति क्या होगी जिसे ऐसे बेतुके एवं बेसिर-पैर के अधिकारी निर्देशित करते हैं इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। सत्ता वर्ग का निरंकुश और अमानवीय स्वरूप एक ऐसा मुद्दा है जो हर युग में प्रासंगिक रहा है और अधिकांश समर्थ रचनाकारों ने इसे अपनी रचना का विषय बनाया है। कालिदास और दंतुल का संवाद शासक वर्ग की निरंकुश प्रवृत्ति को उजागर करता है :

"कालिदास : इस प्रदेश में हरिणों का आखेट नहीं होता राज पुरूष ! तुम बाहर से आए हो इसलिए इतना ही पर्याप्त है कि हम इसके लिए तुम्हें अपराधी न मानें ।

दंतुल : तो राज पुरूष के अपराध का निर्णय ग्रामवासी करेंगे ! ग्रामीण युवक, अपराध और न्याय का शब्दार्थ भी जानते हो।

कालिदास : शब्द और अर्थ राज पुरूषों की संपत्ति है, जानकर आश्चर्य हुआ।

दंतुल : समझदार व्यक्ति जान पड़ते हो, फिरभी यह नहीं जानते हो कि राज पुरूषों के अधिकार बहुत दूर तक जाते हैं।"[18]

हिन्दी नाट्य-परंपरा में युग प्रर्वतक की भूमिका निभाने वाले भारतेन्दु हरिश्चंद्र के प्रसिद्ध नाटक 'अंधेर नगरी' का केन्द्रीय सरोकार भी यही विषय है। इस तरह राकेश ने इस ज्वलंत समस्या को उठाकर अपनी सृजनशीलता का परिचय दिया है।

समकालीन जीवन एवं परिवेश से संबंधित उपरोक्त विषयों के अलावा इस नाटक में मानव जीवन के अनेक महत्वपूर्ण पहलू जैसे भावना और कर्म, प्रेम और कला, यथार्थ और कल्पना, मनुष्य और प्रकृति का अर्न्तसंबन्ध भी विद्यमान हैं। आशा और आस्था एवं हताशा और अनास्था के बीच के द्वन्द्व को भी राकेश ने कालिदास एवं विलोम के माध्यम से दर्शाया है। स्वतंत्रता के बाद अनास्था की शाक्तियाँ प्रबल होती गईं और आस्था दिनोंदिन क्षीण होने लगी। इसी प्रकार नाटक में विलोम ही प्रभावी प्रतीत होता है और कालिदास अस्थिर और हारा हुआ किन्तु लेखक ने इस संबंध में लिखा है :

"आषाढ़ का एक दिन का कालिदास दुर्बल नहीं है, कोमल, अस्थिर और अन्तर्द्वन्द्व से पीड़ित है। विलोम जो अपेक्षया प्रबल प्रतीत होता है, दुराग्रह की आक्रामक शक्तियों को संकेतित करता है। वह व्यक्ति अपने अन्तर्द्वन्द्व को खा चुका है, इसलिए अपेक्षया अधिक संयोजित है। आशा और आस्था से हताशा और अनास्था का स्वर प्रकट रूप से अधिक बलवान होता है, अपनी स्थापना के लिए उसकी आन्तरिक अपेक्षा ही ऐसी होती है। आशा और आस्था की शक्तियाँ अपनी कोमलता में निर्बल प्रतीत हों, फिर भी कथ्य यही है कि बर्बर शक्तियों के हाथों वे पराजित नहीं होतीं। आषाढ़ का एक दिन में पराजित व्यक्ति टूटा हुआ कालिदास नहीं, अपने में संयोजित विलोम है - क्योंकि विजय और पराजय के संकेत वे दोनों स्वयं नहीं हैं।"[19]

अनास्था का स्वर हर युग में प्रबल प्रतीत होता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद मूल्यहीनता और अनास्था ने धर्मवीर-भारती को 'अंधा युग' लिखने पर विवश किया तो राकेश ने प्रच्छन्न रूप से अनास्था की शक्तियों को अपने नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' में उकेरा किन्तु आशा और आस्था को दुर्बल, क्षीण दिखाते हुए भी हारने नहीं दिया। स्वातंत्र्योत्तर भारत के प्रत्येक महत्वपूर्ण रचनाकार ने अनास्था, मोहभंग, अकेलेपन एवं विसंगति की स्थिति का चित्रण किया है क्योंकि यह समकालीन समाज

एवं जीवन का एक कटु यथार्थ था। अनास्था की शक्तियाँ प्रत्येक युग में सबल एवं समर्थ प्रतीत होती हैं इसका सबसे महत्त्वपूर्ण उदाहरण भारतीय जीवन के दो महाकाव्य-महाभारत और रामायण हैं। राकेश ने नाटकीय चरित्रों के माध्यम से अपने युग में व्याप्त मोहभंग और निराशा की स्थिति का न केवल चित्रण किया है बल्कि उसका प्रतिकार भी किया है।

समग्रतः यह कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित होते हुए भी 'आषाढ़ का एक दिन' मूलतः ऐतिहासिक नाटक नहीं है। रचनाकार ने ऐतिहासिक कथावस्तु का उपयोग इसलिए नहीं किया है कि इतिहास को स्पष्ट किया जा सके या उसके अन्तराल को भरा जा सके बल्कि इसका प्रयोग समकालीन समस्याओं और परिस्थितियों को स्पष्ट करने के लिए ही किया गया है। इस संदर्भ में प्रसिद्ध सिने निर्देशक और राकेश के अंतरंग मित्र बासु भट्टाचार्य का निम्नलिखित वक्तव्य अत्यंत सटीक जान पड़ता है :

"अतीत के परिधान में से वर्तमान की आकांक्षा जिस तरह आषाढ़ के झरते दिन के माध्यम से व्यक्त हुई, उसके साथ ही व्यक्त हुआ इस व्यक्ति - मोहन राकेश का नाटककार रूप। मुझे लगा कि अतीत के बीज और वर्तमान के गर्भ से जन्म लेकर निष्कलंक भविष्य की देखरेख में जिसका पालन हो, उस व्यक्ति को सार्थक कलाकार होने का सौभाग्य अनायास ही प्राप्त हो जाता है।"[20]

(v) 'लहरों के राजहंस' में समसामयिक प्रसंग :

'लहरों के राजहंस' मोहन राकेश का दूसरा नाटक है जिसमें ऐतिहासिक कथानक के माध्यम से आधुनिक जीवन की संवेदना को चित्रित किया गया है। यहाँ भी ऐतिहासिक कथानक सिर्फ पृष्ठभूमि के रूप में विद्यमान है। नाटक का केन्द्र बिन्दु सांसारिक सुखों और आध्यात्मिक शांति के पारस्परिक विरोध तथा उनके बीच खड़े हुए व्यक्ति के द्वारा अपनी मुक्ति की तलाश है। स्वयं राकेश ने अपने लेखकीय वक्तव्य में लिखा है :

"मनुष्य उस सब कुछ की ओर आकर्षित होता है जिसे आनन्द कहते हैं, और साथ ही ऐसी किसी चीज़ की ओर भी समान रूप से आकर्षित होता है जिसे स्पष्ट प्रतीकों से प्रकट नहीं किया जा सकता, फिर भी वह उसे तनाव की स्थिति में ले जाने के लिए उतनी ही प्रभावी शक्ति है। हम इसे उसकी 'तलाश' कहें। आज की दुनिया में हम अपने भीतर अधिकाधिक विभाजित होते जा रहे हैं क्योंकि प्रत्येक आदमी कहीं न कहीं बुद्ध होता जा रहा है, अर्थात् उसकी यह अन्दरूनी तलाश किसी चुने हुए व्यक्ति या मन की किसी तरंग तक सीमित नहीं है कि वह किसी दिन संसार को त्याग कर प्रकाश की खोज में निकल पड़ता है। हम में से हरेक के भीतर यह कीड़ा, यानी इस तलाश की इच्छा मौजूद है। दूसरी ओर, वह शक्ति है जो हमें अपनी जिंदगी में सर्वाधिक भौतिक सुखों को प्राप्त करने के लिए बाध्य करती है। यह

ऐसी द्विविधा की स्थिति है जिसमें हममें से हरेक बँटा हुआ है। यह तलाश मनुष्य में उतनी ही यथार्थ है जितनी कि किसी बुद्ध में और मनुष्य में भौतिक सुख की तलाश भी उतनी ही यथार्थ और सच्ची है, जैसे कहें कोणार्क की किसी मूर्ति में। अतः मैं अपने इस दूसरे नाटक में आज के मनुष्य की द्विविधात्मक स्थिति को चित्रित करना चाहता था। .. .. . आप सार्त्र के 'लुसिफर एंड द लार्ड' में भी इसी बात को पायेंगे। यदि आप यह कहें कि यह केवल एक ऐतिहासिक नाटक है तो मैं समझता हूँ कि आप मनुष्य के प्रति न्याय नहीं करेंगे।"[21]

नाटककार के इस वक्तव्य से स्पष्ट है कि भौतिक सुख और आध्यात्मिक शांति के पारस्परिक विरोध एवं मनुष्य द्वारा संपूर्णता की अनवरत खोज एक ऐसा जीवनानुभव है जो सिर्फ बुद्धकालीन न होकर सार्वकालिक और सार्वभौमिक है। भगवतीचरण वर्मा के प्रसिद्ध उपन्यास 'चित्रलेखा' की आधारभूमि भी कमोबेश आंतरिक शांति एवं मुक्ति की यही तलाश है। 'अश्वघोष' का प्रसिद्ध महाकाव्य 'सौन्दरनंद' जो इस नाटक की कथा का आधार भी है उसमें मनुष्य की इस द्विविधाग्रस्त मनःस्थिति का अत्यंत प्रभावशाली काव्य चित्र प्रस्तुत किया गया है :

"बुद्ध का गौरव उसे अपनी ओर खींच रहा था, और सुंदरी का अनुराग अपनी ओर। इसी दुविधा में उससे न जाते बन रहा था न रूकते, उसकी स्थिति लहरों पर डोलते हुए राजहंस की-सी हो रही थी।"[22]

मनुष्य के इस शाश्वत द्वन्द्व के अलावा नाटककार ने नन्द के माध्यम से एक अनिश्चित, अस्थिर और संशयी मन वाले व्यक्ति को भी चित्रित किया है। यह व्यक्ति बुद्ध-काल से कहीं अधिक स्वाधीन भारत के जटिल परिवेश की उपज जान पड़ता है। स्वातंत्र्योत्तर भारत में आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक स्तर पर इस प्रकार की परिस्थितियाँ पैदा हुई जिसने सामान्य मनुष्य की सार्थकता और मूल्यवत्ता में अविश्वास पैदा किया। इस दौर में मज़बूत केन्द्र के बहाने राजनीति में मानवीय चिन्ता का दायरा सिकुड़ता गया है एवं पाखंड बढ़ता गया है, लोकतंत्रीय मान्यताएँ बराबर ध्वस्त हुई हैं और शोषण एवं गैर बराबरी की स्थितियाँ लगातार बढ़ी हैं। इन परिस्थितियों के कारण सामान्य मनुष्य अपने ही देश ओर समाज में बेगाना होता जा रहा है इसके कारण मनुष्य दिनोंदिन निरर्थकता की ओर बढ़ता जा रहा है। स्वातंत्र्योत्तर भारत में उत्पन्न इस मानवीय संकट की चर्चा करते हुए डॉ. धर्मवीर भारती ने लिखा है कि :

"सांस्कृतिक संकट या मानवीय तत्व के विघटन की जो बात बहुधा उठायी जाती रही है। उसका तात्पर्य यही रहा है कि वर्तमान युग में ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न हो चुकी हैं जिसमें अपनी नियति के, इतिहास-निर्माण के सूत्र मनुष्य के हाथों से छूटे हुए लगते हैं - मनुष्य दिनोंदिन निरर्थकता की ओर अग्रसर होता प्रतीत होता है। यह संकट केवल आर्थिक या राजनैतिक संकट नहीं है वरन् जीवन के सभी पक्षों में समान रूप से प्रतिफलित हो रहा है। यह संकट केवल पश्चिम या पूर्व का नहीं है वरन् समस्त संसार में विभिन्न धरातलों पर विभिन्न रूपों में प्रकट हो रहा है।"[23]

उपरोक्त पंक्तियों में डॉ. धर्मवीर भारती ने जिस मानवीय अवमूल्यन और सांस्कृतिक संकट की चर्चा की है उसने स्वातंत्र्योत्तर भारत के अधिकांश सचेत रचनाकर्मियों को आंदोलित किया है। मोहन राकेश ने अपने कथा साहित्य और नाटकों में मनुष्य की इस निरर्थकता और अकेलेपन को विभिन्न चरित्रों के माध्यम से व्यक्त किया है। ऐसे लोग जो अधिकांश लोगों की तरह समझौता नहीं कर सकते उन्हें अवसरवादी व्यवस्था द्वारा दरकिनार कर दिया जाता है, इस कारण उनमें एक प्रकार की हताशा और अकेलेपन की भावना जन्म लेती है। स्वाधीन भारत के इस कटु यथार्थ को स्वयं राकेश ने मोहन महर्षि के साथ अपने साक्षात्कार में इस प्रकार अभिव्यक्त किया है :

"पिछले कुछ वर्षों में स्थितियाँ कल्पना से कहीं अधिक तीव्र गति से बदली है। हर दिन आपको यह महसूस होता है कि आप पीछे छूट गए हैं। इस बदलाव और जिन्दगी की बढ़ती हुई रफ्तार ने न सिर्फ हमारे परिवेश में क्रांतिकारी परिवर्तन किया है अपितु हमारा अपने परिवेश से संबंध विधान भी पूर्णतः बदल दिया है। मात्र पिछले दशक में ही बहुत कुछ बदला है। आज मेरा मुख्य सरोकार इस सतत परिवर्तनशील यथार्थ से बनते-बिगड़ते संबंध विधान से स्वयं को जोड़े रखना है।"[24]

जिस अकेलेपन और पीछे छूट जाने के दर्द का जिक्र राकेश ने इन पंक्तियों में किया है उसका संबंध एक ओर व्यक्ति का अधूरी आकांक्षाओं के साथ है तो दूसरी ओर स्वतंत्रता के बाद के मनुष्य विरोधी माहौल के साथ। समकालीन जीवन के इस मानवीय यथार्थ को राकेश ने अपनी रचनाओं में बार-बार अभिव्यक्त किया है। न सिर्फ उनके नाटकों के पात्र नंद, कालिदास, महेन्द्रनाथ एवं सावित्री में इस हताशा और अकेलेपन की स्थिति को आसानी से महसूस किया जा सकता है अपितु उनके कथा साहित्य के पात्रों जैसे नीलिमा, मिस पॉल आदि में भी इसे देखा जा सकता है। स्वयं नाटककार ने अपनी रचनाओं में अभिव्यक्त इस हताशा, अकेलेपन, विकल्पहीनता की स्थिति को स्वीकारते हुए लिखा है :

"मुझे मानना पड़ेगा कि पिछले बीस वर्षों में मैंने जो-जो अपने आसपास होते देखा उसने मुझे अन्दर काफी उदास कर दिया है। जैसा कि मैंने आपको पहले भी कहा था कि केवल मेरा अपना चरित्र ही मेरे पात्रों की अनिश्चितता या उदासी के रूप में झलका है।"[25]

नाटककार के इस वक्तव्य से स्पष्ट है कि ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित होते हुए भी उनके नाटकों का मुख्य सरोकार आज के मनुष्य की बेचैनी और आन्तरिक संघर्ष को अभिव्यक्त करना है। अपने नाटकों में राकेश ने यह भी दर्शाया है कि हर व्यक्ति को अपनी मुक्ति का मार्ग स्वयं ही खोजना पड़ता है। दूसरों के द्वारा दिया गया समाधान चाहे जितना आकर्षक और मोहक हो वह किसी संवेदनशील व्यक्ति का समाधान नहीं हो सकता इसलिए 'लहरों के राजहंस' नाटक के अंत में नंद न केवल बुद्ध द्वारा थोपा गया भिक्षुत्व अस्वीकार कर देता है बल्कि सुन्दरी के आकर्षण से भी मुक्त होकर अपनी मुक्ति के मार्ग को खोजने चला जाता है। 'अत्त

दीपो भव' अर्थात् अपना दीपक स्वयं बनो को चरित्रार्थ करता हुआ नंद प्रकाश की तलाश में, एक किरण की तलाश में निकल पड़ता है। मुक्ति की दुर्लभता, विकल्पहीनता एवं चयन की पीड़ा राकेश के सभी नाटकों में प्रच्छन्न रूप से व्याप्त है। इसके पीछे बुनियादी रूप से लेखक का अस्तित्ववादी जीवनदर्शन के प्रति रूझान है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद लगभग समस्त पाश्चात्य साहित्य में इस विषाद, निराशा, विकल्पहीनता, चुनाव की यातना, बेचैनी एवं अकेलेपन की प्रतिध्वनि मिलती है। इसका उल्लेख करते हुए डॉ. धर्मवीर भारती ने लिखा है कि :

"लगभग समस्त पाश्चात्य साहित्य में द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद जो साहित्य आया उसमें इसी विषाद, निराशा, दुश्चिन्ता, बेचैनी की प्रतिध्वनि मिलती है। पश्चिम ने यह अनुभव कर लिया था कि वह एक ऐसे बिन्दु पर पहुँच गया है जिसके आगे अँधेरा है, अनिश्चय है, दिग्भ्रम है। .. .. . और जहाँ भले-बुरे की दीवार टूट गई है। जहाँ शब्द कुछ और हैं अर्थ कुछ और। धारणा कुछ और है, आचार कुछ और है, कर्म कुछ है, परिणाम दूसरा। पश्चिम की समस्त व्यवस्था तूफ़ान में पड़े हुए ऐसे जहाज की तरह हो गई है जिसके पाल फट चुके हैं, पतवारें टूट चुकी हैं, माझी बेकाम हो चुके हैं। उत्ताल लहरों पर निरूद्देश्य डोलता हुआ एक विशाल पोत। द्वितीय महायुद्ध के बाद जिस अस्तित्ववादी विचारधारा का आकस्मिक प्रसार पश्चिम में हुआ, उसमें बार-बार जो प्रतीक प्रयुक्त हुआ है, वह इसी तूफान में ध्वस्त जहाज़ का।"[26]

पाश्चात्य साहित्य में व्याप्त इस अनिश्चय, अँधेरे और दिग्भ्रम ने भारतीय रचनाकारों को भी प्रभावित किया। राकेश में अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन का प्रभाव काफी हद तक देखने को मिलता है उनके सभी पात्र और परिस्थितियाँ अनिश्चित हैं, संभ्रम में जीते उनके नाटकों के प्रमुख पात्र नंद, कालिदास, महेन्द्रनाथ, सावित्री आदि उदासी और विकल्पहीनता की स्थिति से घिरे नज़र आते हैं। अर्थहीनता, हताशा, व्यर्थता, दमघोंटू वातावरण से निकास की तलाश कामू ही की तरह राकेश के नाटकों को एक हताश बिन्दु की ओर ले जाती है। बोद्धिकता का आवरण ओढ़े हुए राकेश के पात्र किसी न किसी स्थापना पर भी बल देते हैं और इसी मायने में यह 'थीसिस प्ले' हैं। नाटक वृत्ताकार रूप में चलता है और जहाँ से चलता है वहीं लौटकर आ जाता है चूँकि अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन के अनुसार हर व्यक्ति प्रत्यावर्तन के लिए अभिशप्त है। मुक्ति का कोई रास्ता नहीं है फिर भी मनुष्य को चुनाव की यंत्रणा से गुज़रना पड़ता है। 'लहरों के राजहंस' में भी नंद अपने रास्ते का चुनाव अंततः अनिश्चितता की स्थिति के बाद स्वयं करता है और एक किरण की खोज में अकेला निकल पड़ता है। दिग्भ्रम, अनिश्चय अकेलापन उसके चरित्र में सर्वत्र व्याप्त हैं :

"तब नहीं लगा था, पर अब लगता है कि केश काटकर उन्होंने मुझे बहुत अकेला कर दिया है। घर से .. .. और अपने-आपसे भी अकेला ! जिस सामर्थ्य और विश्वास के बल पर जी रहा था, उसी के सामने मुझे असमर्थ और असहाय बनाकर फेंक दिया गया है। .. .. . लगता है मैं चौराहे पर खड़ा एक नंगा व्यक्ति हूँ जिसे सभी दिशाएँ लील लेना चाहती हैं। और अपने को ढंकने के लिए उसके पास कोई

आवरण नहीं है। .. .. . परन्तु मैं इस असहायता की स्थिति में नहीं रह सकता। .. .. . अस्तित्व और अनस्तित्व के बीच मेरी चेतना को एक प्रश्नचिन्ह .. .. . केवल एक प्रश्नचिन्ह बनाकर छोड़ दिया गया है।"[27]

अतः यह स्पष्ट है कि नंद भी सार्थकता की खोज में भटक रहा है उसे जीवन निरर्थक प्रतीत होने लगा है अपने सार्मथ्य से उसका विश्वास उठ चुका है। अंधेरा चूँकि युगीन सत्य बन चुका था अतः स्वातंत्र्योत्तर भारतीय रचनाकारों ने अंधकार को विविध रूप में प्रकट किया फिर चाहे वह 'अंधेरे में' हो या 'अंधेरे बंद कमरे'। लहरों के राजहंस में भी अंधकूप का जिक्र है जिसमें सब कुछ डूब गया है और मुक्ति का कोई रास्ता नज़र नहीं आता :

"कोई स्वर नहीं है .. .. . कोई किरण नहीं है .. .. .. सब कुछ - सब कुछ इस अंधकूप में डूब गया है। .. .. . मुझे सुलझा लेने दो .. .. सुलझा लेने दो .. .. . नहीं तो अपने हाथों का मैं क्या करूँगा ? .. .. कोई उपाय नहीं है .. .. . कोई मार्ग नहीं है .. .. . इन लहरों पर से .. .. . लहरों पर से .. .. . यह छाया हटा दो .. .. . मुझसे .. .. . मुझसे यह छाया नहीं ओढ़ी जाती .. ..। "[28]

'लहरों के राजहंस' में ही नहीं बल्कि 'आषाढ़ का एक दिन' में भी यही संकेत मिलता है कि मनुष्य की मुक्ति संभव नहीं है। इस नाटक में भी रचनाकार ने कालिदास के चरित्र के माध्यम से चयन की यंत्रणा और विकल्पहीनता की स्थिति का चित्रण किया है जो मल्लिका और कालिदास के निम्नलिखित संवाद में अनायास ही मुखर हो उठती है :

"मल्लिका : तुम कह रहे थे कि तुम फिर अथ से आरंभ करना चाहते हो।

कालिदास : मैंने कहा था मैं अथ से आरंभ करना चाहता हूँ। यह सम्भवतः इच्छा का समय के साथ द्वन्द्व था। परन्तु देख रहा हूँ कि समय अधिक शक्तिशाली है क्योंकि .. .. .

मल्लिका : क्योंकि ?

कालिदास : क्योंकि वह प्रतीक्षा नहीं करता ।"[29]

कालिदास और नंद की ही तरह आधे-अधूरे नाटक में महेन्द्रनाथ और सावित्री, अशोक और बिन्नी जैसे सभी पात्र अपने दमघोंटू वातावरण से मुक्त होना चाहते हैं लेकिन मुक्ति और वरण की स्वतंत्रता इन्हें प्राप्त नहीं हो पाती। सिसिफस की ही तरह ये सभी प्रत्यावर्तन के लिए विवश होते हैं क्योंकि मनुष्य वरण की स्वतंत्रता से वंचित है। राकेश के नाटकों में निहित इस अस्तित्ववादी जीवन दृष्टि को रेखांकित करते हुए श्री जगदीश शर्मा ने लिखा है :

"इस तनाव और टूटन में लेखक की अस्तित्ववादी दृष्टि अन्तनिर्हित है। अपने नाटकीय लाघव के बल पर - राकेश ने अपने दृष्टिकोण की दार्शनिकता को मुखर नहीं होने दिया है। वह कथा-स्थितियों, प्रतीकों और संवेदनशीलता में घुल गई है

फिर भी दार्शनिकता सर्वथा अनचीन्ही न रह जाये, इसलिए उसके संबंध में लेखक ने एकाध स्थान पर संकेत कर दिया है। 'आषाढ़ का एक दिन' में मुक्ति की तलाश में असफल हुए व्यक्ति की यंत्रणा अंकित की गयी है। .. .. .. मुक्त होना क्या कभी संभव है ? 'आषाढ़ का एक दिन' से ही नहीं, 'आधे-अधूरे' से भी यही उत्तर मिलता है कि मुक्ति दुर्लभ है। 'आधे-अधूरे' की नायिका मुक्ति के लिए तड़पती है। जगमोहन के साथ हुई स्त्री की बातचीत की कल्पना के बहाने जुनेजा मुक्ति के लिए उसकी तलाश पर प्रकाश डालता है : "तुम जैसे भी हो अब इस घर से छुटकारा पा लेना चाहती हो। लेकिन चाहने से क्या होता है ? मुक्ति के समान ही वरण की स्वतंत्रता भी सुलभ नहीं है। .. .. .. 'आषाढ़ का एक दिन' का कालिदास 'इच्छा के साथ समय का द्वन्द्व' देखकर इसी निष्कर्ष पर पहुँचा है कि 'समय अधिक शक्तिशाली है क्योंकि .. .. . क्योंकि वह प्रतीक्षा नहीं करता।' 'आधे-अधूरे' का जगमोहन भी इस सच्चाई से परिचित है, इसलिए वह कहता है : 'कल और आज में फर्क होता है।' 'कल और आज' का यह फर्क ही नन्द से निर्णय की स्वतंत्रता छीन लेता है।"[30]

स्पष्ट है कि अस्तित्ववादी जीवन दर्शन राकेश के संपूर्ण साहित्य में सूक्ष्म चेतना की तरह अन्तर्व्याप्त है लेकिन रचनाकार ने इसे ऋणात्मक जीवन दर्शन के रूप में ग्रहण नहीं किया है। दमघोंटू वातावरण और मनुष्य विरोधी परिस्थितियों के बीच भी उनके पात्रों में जीवनेच्छा सहज ही मुखर हो उठती है जो उनके जीवन दर्शन को एक स्वस्थ धरातल प्रदान करती है। 'लहरों के राजहंस' का नन्द निर्णय भले ही न ले पाये लेकिन वह अपने अस्तित्व को निरर्थक मानने के पक्ष में नहीं है इसलिए वह गौतम बुद्ध के वैराग्य-धर्म के विरूद्ध जीवन-लालसा के द्वन्द्व को पूरी प्रबलता के साथ उद्घाटित करता है, 'परन्तु वह स्पंदन, वह अकुलाहट क्या जीवन का पूरा अर्थ, जी लेने का कुल पुरस्कार नहीं है ? '

विकल्पहीनता, हताशा, चुनाव की यातना, पार्थिव और अपार्थिव का द्वन्द्व, व्यक्ति की महत्वाकांक्षा के अतिरिक्त राकेश ने 'लहरों के राजहंस' नाटक में 'आषाढ़ का एक दिन' की ही तरह राजसत्ता और उससे जुड़े लोगों की विवेकहीनता को भी दर्शाया है। जिस समय कपिलवस्तु की संपूर्ण प्रजा गौतम बुद्ध के दर्शनार्थ उमड़ रही है उस समय सुन्दरी द्वारा कामोत्सव का आयोजन निश्चय ही राज्याधिकारी वर्ग की अदूरदर्शिता एवं विवेकहीनता का परिचायक है। राज्याधिकारियों की यह विवेकहीनता श्यामांग और श्वेतांग के संवाद से स्पष्ट होती है :

"श्वेतांग : अब नहीं सोचता । पहले सोचा करता था।

श्यामांग : पहले सोचा करते थे। .. .. और सोचने का परिणाम यह हुआ कि .. .. .

श्वेतांग : सोचना छोड़ दिया।

श्यामांग : सोचना छोड़ दिया।

श्वेतांग : आदमी काम करना चाहे तो उपाय यही है, राज-कर्मचारी के लिए विशेष रूप से।"[31]

श्यामांग और श्वेतांग के संवाद के माध्यम से रचनाकार ने राजसत्ता की जिस अदूरदर्शिता और यांत्रिकता का संकेत किया है वह प्रकारान्तर से स्वाधीन भारत के राजनैतिक परिदृश्य को उद्घाटित करता है। इसके अलावा इस नाटक में शहरों एवं महानगरों में जीवन व्यतीत करते हुए लोगों की एकरस जीवन शैली की ओर इशारा भी किया गया है। सांस्कृतिक रिक्तता की स्थिति में जीते हुए इन लोगों को जहाँ भी थोड़ी नवीनता दिखाई देती है, वे उस ओर उमड़ पड़ते हैं। सुन्दरी का निम्नलिखित संवाद ऊबे हुए लोगों की एकरस जिन्दगी का प्रभावशाली चित्रण करता है :

"अलका : देवी यशोधरा की बात आप जानें। परन्तु प्रजा के बच्चे-बूढ़ों तक में क्यों इतना उत्साह है ? वे संध्या होते ही क्यों नदी-तट की ओर उमड़ पड़ते हैं .. .. .? क्या इसका अर्थ यही नहीं कि .. ..

सुन्दरी : इसका अर्थ इतना ही है अलका, कि बहुत दिन एकतार जीवन बिताकर लोग अपने से ऊब जाते हैं। तब जहाँ कुछ भी नवीनता दिखाई दे, वे उसी ओर उमड़ पड़ते हैं। यह उत्साह दूधफेन का उबाल है। चार दिन रहेगा, फिर शांत हो जायेगा।"[32]

उपरोक्त संवाद के माध्यम से रचनाकार ने लोगों की एकरस जिन्दगी और ऊब भरी मनःस्थिति को दर्शाया है। इसी के कारण समकालीन जीवन एवं समाज में संत महात्माओं, धर्मगुरूओं और चमत्कारी बाबाओं की जमात में लगातार वृद्धि हो रही है। इनके लगातार बढ़ते प्रभाव को उन अनेक दूरदर्शन चैनलों पर देखा जा सकता है जो भक्तों की संख्या की ही तरह तीव्र गति से बढ़ रही हैं।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि अपने ऐतिहासिक नाटकों में राकेश ने मुख्य रूप से आधुनिक युग की समस्याओं को ही प्रक्षेपित किया है। ऐतिहासिक कथा 'आषाढ़ का एक दिन' एवं 'लहरों के राजहंस' में एक आश्रय मात्र है। इन नाटकों का मूल कथ्य मानव जीवन की मूलभूत समस्याओं को ही वर्णित करना है, जो समसामयिक भी हैं और शाश्वत भी। अपने कालखंड में जीती हुई ये रचनाएँ उस युग-विशेष का अतिक्रमण भी करती हैं और इस प्रकार ये पारंपरिक ऐतिहासिक रचनाओं से भिन्न हैं। ये समय से बँधी होकर भी उसके पार देखने का साहस करती हैं। स्वयं राकेश के अनुसार :

"साहित्य इतिहास के समय से बँधता नहीं, समय में इतिहास का विस्तार करता है, युग से युग को अलग नहीं करता, कई-कई युगों को एक साथ जोड़ देता है। इस तरह इतिहास के 'आज' और 'कल' उसके लिए 'आज' और 'कल' नहीं रह जाते, समय की असीमता में कुछ ऐसे जुड़े हुए क्षण बन जाते हैं जो जीवन को दिशा-संकेत देने की दृष्टि से अविभाज्य हैं। इस तरह साहित्य में इतिहास अपनी यथातथ्य घटनाओं में व्यक्त नहीं होता, घटनाओं को जोड़नेवाली ऐसी कल्पनाओं में

व्यक्त होता है जो अपने ही एक नए और अलग रूप में इतिहास का निर्माण करती है।"[33]

(vi) आधुनिक जीवन का प्रखर दस्तावेज : आधे-अधूरे

प्रारंभिक दोनों नाटकों से भिन्न मोहन राकेश का तीसरा महत्वपूर्ण नाटक आधे-अधूरे ऐतिहासिक कथावस्तु की बजाय समकालीन जीवन-स्थितियों पर आधारित है। यह समकालीन जिन्दगी की विडम्बना और उसकी समस्याओं के अनेक पहलुओं को चित्रित करता है। यह नाटक स्वाधीन भारत के एक ऐसे परिवार के क्रमशः विघटित होने की प्रक्रिया को प्रस्तुत करता है, जिसका ढाँचा आर्थिक दबाव के कारण चरमरा रहा है। महेन्द्रनाथ व्यापार में अपनी सारी पूँजी गँवाकर बेकार है और पत्नी सावित्री नौकरी कर घर चलाती है। आर्थिक दबाव और कई तरह की परिस्थितियों के कारण अब दोनों एक दूसरे के प्रति अत्यंत कटु हो गए हैं, एक दूसरे से बेज़ार हैं और हर वक्त एक दूसरे को छीलते-उधेड़ते रहते हैं। दोनों अपने आधे-अधूरे जीवन से असंतुष्ट हैं और अपनी-अपनी तरह संपूर्णता की खोज में रत है। दोनों को ही सारे का सारा जीवन चाहिए। विडम्बना यह है कि दूसरा व्यक्ति इस अधूरेपन को कम नहीं करता बल्कि उस अहसास को और भी बढ़ा देता है। न केवल पति और पत्नी बल्कि इस परिवार का हर सदस्य एक दूसरे से उदासीन और कटा हुआ है। घर की त्रासदायक हवा से सभी मुक्ति पाना चाहते हैं जबकि घर की जरूरत सभी को है। बड़ी लड़की मनोज का सहारा मिलते ही बाहर निकल भागती है। लड़का - अशोक सावित्री का प्रभावशाली व्यक्तियों से संबंध बनाने एवं उन्हें खुश करने की उसकी हर कोशिश का विरोधी है क्योंकि ऐसे लोग उन्हें अपनी नज़रों में और छोटा कर देते हैं, असहाय बना देते हैं। अपने पिता के लिए उसके मन में सहानुभूति है एवं माँ के लिए आक्रोश। छोटी लड़की के विकास को'घर' नहीं मिला, स्नेह नहीं मिला अतः वह माँ, पिता, भाई, बहन घर के किसी भी सदस्य के प्रति लगाव महसूस नहीं करती। इस प्रकार नाटक में पारिवारिक अन्तर्द्वन्द्व और बेगानेपन को रचनाकार ने घर के सदस्यों के माध्यम से कुशलता पूर्वक चित्रित किया है। यह सिर्फ एक घर की कहानी नहीं है अपितु स्वाधीन भारत में आर्थिक दबाव और उपभोक्तावादी संस्कृति के शिकंजों में चरमराते हुए अनेक घरों की दास्तान है। आर्थिक विपन्नता और बाजारु संस्कृति ने भारतीय परिवार की बुनियाद और पारस्परिक संबंधों को किस कदर हिला कर रख दिया है, आधे-अधूरे इसकी जीवंत मिसाल है।

एक अन्य स्तर पर यह नाटक 'घर' की तलाश का भी नाटक है। स्वयं राकेश के मन में घर बसाने की इच्छा अत्यंत तीव्र थी। 'घर' उनके जीवन और रचना-कर्म दोनों का केन्द्र बिन्दु रहा है, इसलिए यह स्वाभाविक है कि उनके पात्रों में भी 'घर' की लालसा नज़र आये। इस संबंध में डॉ. इन्द्रनाथ मदान ने लिखा है कि :

"राकेश का घर अनेक बार टूटा है जिसकी गवाही उसके समस्त साहित्य में मिलती है - वह चाहे नाटक हों या उपन्यास या कहानी। राकेश ने वास्तव में एक ही पूरा नाटक लिखा है, जो अधूरा है। कालिदास गुप्तकालीन न होकर राकेशकालीन है। इसी तरह नन्द बुद्धकालीन न होकर राकेशकालीन है। महेन्द्रनाथ तो सीधे तौर पर समकालीन है। इन सबकी समस्या है - घर के माध्यम से व्यक्तित्व की खोज और व्यक्तित्व के माध्यम से घर की खोज। कालिदास और नन्द टूटे घर से बाहर निकलकर महेन्द्रनाथ के रूप में टूटे घर में लौटने के लिए अभिशप्त हैं।"[34]

दरअसल 'घर' राकेश के नाटकों का केन्द्रबिन्दु है जहाँ से नाटक का आरंभ भी होता है और अंत भी। यद्यपि इस घर का ढाँचा बिखर रहा है फिरभी इसमें एक ऐसा आकर्षण है कि हर किसी को वापस खींचता है। एक मजबूरी और निर्भरता घर के सभी सदस्यों को एक दूसरे से जोड़ती है, चाहे यह बंधन कितना ही क्षीण क्यों न हो, यही कारण है कि घर से बाहर निकलने के बावजूद प्रत्येक सदस्य यहीं वापस लौटता है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद महानगरों के बसने एवं गाँवों में रोज़गार के अवसर क्रमशः कम होते जाने की वजह से संयुक्त परिवार का स्थान एकल परिवारों ने ले लिया। संयुक्त परिवार में आर्थिक एवं तमाम अन्य तरह की जिम्मेदारियाँ बँट जाती थीं जिससे यदि कोई व्यक्ति आर्थिक रूप से कम संपन्न है तो भी उसका दायित्व संपूर्ण परिवार पर होता था। साझा दायित्व एवं सांझी जिम्मेदारी होने की वजह से व्यक्ति का एकाध दोष छिप जाता था और आर्थिक, सामाजिक, पारिवारिक दबाव परिवार के सभी व्यक्ति वहन करते थे। संयुक्त परिवार व्यवस्था के टूटने के बाद सारी जिम्मेदारियाँ परिवार के मुखिया में सिकुड़ गई और उसका कोई भी दोष उसे खोटा सिक्का बनाकर 'रबड़ का टुकड़ा' बना सकता था। अतः महेन्द्रनाथ की बेकारी उसकी घर चलाने की अक्षमता किसी ने बर्दाश्त नहीं की। घर की बुनियाद ही मजबूत न हो सकी और उसके सभी दोष स्पष्ट दिखने लगे। एकल परिवार में चूँकि हर जिम्मेदारी घर के मुखिया को निभानी चाहिए अतः वह निरा बोदा और रीढ़हीन सिद्ध हुआ और अपनी पत्नी की नज़र से गिर गया। अतः आधे-अधूरे एक अन्य स्तर पर एकल परिवार में मनुष्य की बढ़ती हुई जिम्मेदारी और दबाव सहन करने की मजबूरी को भी रेखांकित करता है।

इस नाटक में मध्यवर्गीय जीवन में व्याप्त सांस्कृतिक रिक्तता और इसके कारण उत्पन्न विकृत मूल्यों, भ्रांतियों एवं दोगली नैतिकता को भी पूरा प्रखरता से उद्घाटित किया है। स्वाधीन भारत में महानगरों के विकास, जनसंख्या का अपने मूल स्थान से स्थानांतरण और पश्चिम के अंधानुकरण के कारण एक ऐसी संस्कृति का विकास हुआ जिसमें लोग अपनी ही सामाजिक सांस्कृतिक परंपराओं से अनजान बनते गए। प्रसिद्ध सितारवादक रविशंकर ने सांस्कृतिक रिक्तता की इस प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए लिखा है :

"सच बात तो यह है कि हम भारतीय लोग एक सांस्कृतिक शून्य में जी रहे हैं। और वह शून्य अपने अन्दर के सूनेपन से घबराकर इधर-उधर की तमाम अल्लम-गल्लम चीज़ों से अपने को भर लेना चाहता है। इसीसे कुरूचि का भी विकास होता है और आपस में एक दूसरे को न समझने के दुराग्रह का भी।"[35]

जिस सांस्कृतिक शून्य की बात रविशंकर ने इन पंक्तियों में की है वह इस युग के मध्यवर्ग की एक कटु सच्चाई रही है। स्वाधीनता के दौरान प्रत्येक व्यक्ति को यह विश्वास था कि राजनैतिक स्वतंत्रता मिलने के बाद जो शासन व्यवस्था बनेगी उसमें उनकी महत्वपूर्ण भूमिका होगी और एक ऐसे समाज की रचना संभव हो पायेगी जो समतामूलक और सामाजिक न्याय पर आधारित होगा लेकिन स्वाधीनता के उपरांत जो राजनीतिक व्यवस्था अस्तित्व में आई उसके द्वारा सिर्फ कुछ लोग समृद्ध होते गए जबकि अधिकांश जनता गरीबी और बेकारी की जिन्दगी बसर करते हुए हाशिए पर धकेल दी गई। इस मानव-विरोधी परिस्थिति ने मध्यम वर्गीय युवा वर्ग में जबरदस्त मोहभंग और आक्रोश पैदा किया जो तत्कालीन साहित्य में अभिव्यक्त हुआ। आधे-अधूरे नाटक में अशोक का चरित्र बुनियादी रूप से इसी मोहभंग और आक्रोश की स्थिति को अभिव्यक्त करता है। सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था से उसका विश्वास पूरी तरह उठ चुका है और बेकारी के कारण वह एक 'एंग्री यंग मैन' के रूप में तब्दील हो गया है - जिसे न घर की परवाह है न संबंधों की और न ही सामाजिक प्रतिष्ठा एवं सामाजिक स्वीकृति की। सिंधानिया के साथ अशोक का संवाद मध्यवर्गीय बेरोजगार युवक की मनःस्थिति को स्पष्ट करता है :

"बड़ी लड़की : क्या हुआ ?

स्त्री : (कुछ खीझ के साथ) उन्होंने क्या पूछा है ?

लड़का : (बड़ी लड़की से) हुआ कुछ नहीं .. .. कीड़ा है एक ।

बड़ी लड़की : कीड़ा ?

पुरूष दो : अपने देश में तो .. .. ।

लड़का : पकड़ गया ।

पुरूष दो : . .. . इतनी तरह का कीड़ा पाया जाता है कि .. .. ।

लड़का : मसल दिया।

पुरूष दो : मसल दिया ? शिव-शिव-शिव। यह हिंसा की भावना।

स्त्री : बहुत है इसमें। कोई कीड़ा हाथ लग जाय सही।

लड़का : और कीड़ा चाहे जितनी हिंसा करता रहे ?

पुरूष दो : मूल्यों का प्रश्न है। मैं प्रायः कहा करता हूँ .. .. बैठो तुम लोग।"[36]

इन पंक्तियों में नयी पीढ़ी के युवक की हताशा और असफलता से उत्पन्न आक्रोश एवं घृणा की मनःस्थिति को आसानी से देखा जा सकता है। असफलता, निराशा और महत्वाकांक्षा के अपूर्ण रह जाने का दर्द एक ऐसी प्रक्रिया को जन्म देता है जिसे हम विमानवीयकरण (Dehumanization) कह सकते हैं। तत्कालीन समय का यह एक कटु यथार्थ है जिसे अशोक के विभिन्न क्रिया-व्यापारों में लक्षित किया जा सकता है। कॉलेज में फेल होने के बाद वह दिन-भर घर में पड़ा रहता है - पत्रिकाओं से अभिनेत्रियों की तस्वीरें काटता हुआ और बिस्तर में कैसेनोवा के संस्मरण पढ़ता हुआ। जीवन में असफल होने के कारण उसकी दिलचस्पी यौन विषयों में अधिक हो गई है। अपनी पड़ौस की युवा लड़की का पीछा करने तथा अपनी बहन की चीजें चुराकर उस लड़की को उपहार देने में अब उसका अधिकांश समय बीतता है। अशोक के ये विविध क्रियाकलाप नयी पीढ़ी के उस युवावर्ग के हैं जो मोहभंग और पराजय की स्थितियों से गुज़र रही है। भारतीय मध्यवर्ग की इस मानसिकता का उल्लेख प्रसिद्ध रंगकर्मी इब्राहिम अलकाजी ने अत्यंत सटीक शब्दों में किया है :

"मध्यवर्गीय जीवन की प्रत्येक अवस्था और प्रत्येक स्तर पर राजयक्ष्मा का घातक रोग घर कर गया है, जो जीवन के उत्स को ही खा लेता है - पीछे सिर्फ खुले घाव और मूक दर्द रह जाता है। हर एक प्रताडित व्यक्ति अपनी हताशा और असफलता को दूसरे के विरूद्ध घृणा के हथियारों में बदल देता है। मध्यवर्गीय औचित्य के प्रदर्शन और आत्मसम्मान की भावना के पर्दे के पीछे यौन कुंठाओं, अज्ञात भयों, बड़े-बड़े सपनों एवं व्यक्तिगत पराजय के साँप कुंडली मारे रहते हैं।"[37]

सांस्कृतिक शून्य और पारिवारिक विघटन की स्थिति ने सिर्फ युवा अशोक को ही प्रभावित नहीं किया है बल्कि छोटी लड़की किन्नी भी इससे अछूती नहीं है। घर के सदस्यों के स्नेह से वंचित और अपनी छोटी-छोटी जरूरतों की अनापूर्ति ने उसका बचपन समय से पहले ही छीन लिया है। न केवल वह बेहद कटु और लापरवाह हो गई है बल्कि अपनी उम्र से पहले ही यौन-विषयों में रुचि लेने लगी है। अपने घर में टूटते हुए संबंधों और रोज़-रोज़ की चिक-चिक ने उसे आत्मकेन्द्रित बना दिया है। घर की कलह उसके लिए प्रतिदिन होनेवाला ऐसा ड्रामा है जिससे उसे कोई सरोकार नहीं। उसके विकास में 'घर' का कोई सहयोग नहीं, किसीने उसका ध्यान नहीं रखा अतः वह भी बेपरवाह हो गई है : "छोटी लड़की : जब नहीं हो - होना होता, तो सब लोग होते हैं सिर पर और जब हो - होना होता है तो कोई भी नहीं दि दिखता कहीं।"[38]

इस नाटक में रचनाकार ने मध्यवर्गीय व्यक्ति के दोहरे मानदंड़ो एवं भ्रांतियों का निर्ममता पूर्वक अनावरण किया है। महेन्द्रनाथ, सिंधानिया, जगमोहन और जुनेजा के रूप में मध्यवर्ग के अनेक पहलुओं का नाटककार ने उद्घाटन किया है। प्रसिद्ध रंगकर्मी इब्राहिम अल्काजी के शब्दों में :

"मध्यम वर्ग के अन्य अपेक्षया समृद्ध स्तर भी राकेश द्वारा निर्ममतापूर्वक अनावृत हुए हैं। यहाँ सिंधानिया जैसा भ्रष्ट एवं असंस्कृत व्यवसायी है, जिसके लिए हरेक काम एक व्यावसायिक सौदा है और उसकी कीमत लेनी-चुकानी होती है। .. .. फिर पत्नी का पुराना प्रेमी जोग है, जिसके लिए स्त्रियों की चाहत एक हृदयहीन, नपा-तुला खेल है, जो वह चाहता है, बिना किसी संकोच के दबोच लेता है, और जिससे उसका कोई मतलब नहीं निकलता, उसे लापरवाही से छोड देता है। अंत में जुनेजा आता है, पति महेन्द्रनाथ का भूतपूर्व व्यावसायिक भागीदार, जो अंतिम दृश्य में पत्नी की भ्रांतियों, आकांक्षाओं एवं आत्मवंचना को बेरहमी से उधेड़कर रख देता है, लेकिन जो अपनी साफगोई और दूसरे की कमियों का अनावरण क़र देने के गुण के बावजूद, स्वयं भी बहुत रूचिकर चरित्र नहीं है।"[39]

इस नाटक में राकेश ने न केवल मध्यवर्ग के समृद्ध स्तरों के मानदंडो और दोगलेपन का पर्दाफाश किया है बल्कि महेन्द्रनाथ एवं उनके परिवार के माध्यम से निम्नमध्यवर्ग की महत्वाकांक्षा और उसके टूटने की प्रक्रिया का भी चित्रण किया है। निम्नमध्यवर्ग की और मध्यवर्ग की सबसे बडी विडम्बना यही है कि वह जो नहीं है उसी का ढ़ोंग करने में जिंदगी जाया कर देते है। उच्च वर्ग से नाभि-नाल बद्ध ये लोग, उन्हीं की ओर मुँह बाये खड़े रहते हैं जिसकी वजह से न तो उनकी तरह बन पाते है और न ही अपनी जिन्दगी की छोटी-छोटी खुशियों को जी पाते है। झूठे प्रदर्शन में ही इनकी जिंदगी स्वाहा हो जाती है। इस प्रकार यह नाटक मध्यवर्गीय जीवन की भ्रांतियों, महात्वाकांक्षाओं, आत्मवंचना एवं दोहरी नैतिकता तथा विनाशकारी रिक्तता का प्रखर दस्तावेज है।

इस नाटक में मानव जीवन के एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू की ओर संकेत किया गया है और वह है - मानवीय इच्छा के अधूरे रह जाने की नियति। मनुष्य की यह अदम्य इच्छा और संपूर्णता की तलाश उतनी ही प्राचीन है जितना कि मानव जाति का इतिहास। मनुष्य ने अपने अधूरेपन क़ी पूर्ति हेतु ही अतिमानवीय शक्तियों एवं ईश्वर की परिकल्पना की क्योंकि उसके अधूरे होने का दर्द हंमेशा ही उसे सालता रहा। इस सर्वकालिक एवं सार्वभौमिक सत्य को राकेश ने आधे-अधूरे में अत्यंत प्रभावशाली ढ़ंग से चित्रित किया है। जुनेजा और सावित्री का संवाद स्पष्ट करता है कि मनुष्य की तृष्णा अनंत है :

"पुरूष चार : .. .. क्योंकि तुम्हारे लिए जीने का मतलब रहा है - कितना कुछ एक साथ होकर, कितना कुछ एक साथ पाकर और कितना कुछ एक साथ ओढ़कर जीना। वह उतना-कुछ कभी तुम्हें किसी एक जगह न मिल पाता, इसलिए जिस किसी के साथ भी जिन्दगी शुरू करती तुम हमेशा इतनी ही खाली, इतनी ही बेचैन बनी रहतीं।"[40]

संपूर्णता की तलाश और आधे-अधूरे रह जाने की नियति न केवल सावित्री की है बल्कि यह दर्द आज के प्रत्येक आम आदमी का है। स्वयं नाटककार ने इस संबंध में लिखा है :

"अधूरे का मतलब 'इनकम्पलीट' और आधे का मतलब 'हाफ' है। यह आज के सामान्य वर्ग से संबंधित है जो अपने में आधा भी है और अधूरा भी। यह इस शहर के एक मध्यवर्गीय परिवार की कहानी है जिसे परिस्थितियाँ निचले वर्ग की ओर धकेलती जा रही हैं। उनके जोश, पराजय, इच्छाएँ, संघर्ष और इसके साथ-साथ स्थिति का हाथ से फिसल जाना - मैंने सब कुछ इसमें दिखाने की कोशिश की है।"[41]

मोहन राकेश के उपरोक्त वक्तव्य से यह स्पष्ट है कि नाटक का मुख्य सरोकार मानवीय इच्छा के अधूरेपन को रेखांकित करना है। नाटक के सभी पात्रों में अपनी जिन्दगी के प्रति असंतोष है और यह असंतोष मूलतः अधूरी इच्छाओं और आकांक्षाओं का परिणाम है। इस विषय में प्रख्यात निर्देशक ओम शिवपुरी की टिप्पणी अत्यंत सटीक जान पड़ती है :

"एक अन्य स्तर पर यह नाट्य रचना मानवीय संतोष के अधूरेपन का रेखांकन है। जो जिन्दगी से बहुत कुछ चाहते हैं उनकी तृप्ति अधूरी ही रहती है। महेन्द्रनाथ, सिंधानिया, जगमोहन और जुनेजा - ये अलग-अलग गुणों के चार पुरूष हैं। चुनाव के एक क्षण में सावित्री ने महेन्द्रनाथ के साथ गाँठ बाँध ली और आगे चलकर अपने को भरा-पूरा महसूस नहीं किया। लेकिन अगर वह महेन्द्रनाथ की बजाय जगमोहन से रिश्ता जोड़ती, तब भी अनुभूति वही रहती, क्योंकि तब जगमोहन में जुनेजा के गुण नहीं मिलते ... .. . और इस तरह यह दुश्चक्र चलता ही रहता है।"[42]

मानवीय असंतोष एवं अतृप्ति के जिस दुश्चक्र की बात ओम शिवपुरी ने अपने निर्देशकीय वक्तव्य में कही है वह न केवल आधे-अधूरे के पात्रों में बल्कि राकेश के संपूर्ण कथा साहित्य में मिलता है। अपने अन्य नाटकों और कहानियों की तरह राकेश ने इस नाटक में भी यह दर्शाया कि मनुष्य की मुक्ति दुर्लभ है। इसके साथ ही इसमें चयन की पीड़ा, अनिश्चितता और विकल्पहीनता की स्थिति को भी रेखांकित किया गया है। आधे-अधूरे की नायिका सावित्री अपने घर से छुटकारा पाने का निर्णय लेती है लेकिन कुछ ही समय में यह स्पष्ट हो जाता है कि यह फैसला कितना बेमानी है जब उसे वापस घर लौटना पड़ता है। यह इस बात को दर्शाता है कि मनुष्य वरण की स्वतंत्रता से वंचित है। जुनेजा और सावित्री के संवाद के माध्यम से राकेश ने मनुष्य की चयन की पीड़ा को रेखांकित किया है।

"पुरूष चार : 'फिर भी तुम्हें लगता रहा है कि तुम चुनाव कर सकती हो। लेकिन दायें से हटाकर बायें, सामने से हटाकर पीछे, इस कोने से हटाकर उस कोने में .. .. .. क्या सचमुच कोई चुनाव नज़र आया है तुम्हें ? बोलो, आया है नज़र कहीं ? "[43]

केवल सावित्री ही नहीं, अपितु महेन्द्रनाथ भी मुक्ति की तलाश में हर मंगल, शनीचर को घर से बाहर निकलता है पर अंततः वह भी प्रत्यावर्तन के लिए अभिशप्त है। इसी प्रकार नाटक के अन्य सभी पात्र 'घर' से छुटकारा पाना चाहते हैं पर यह संभव नहीं होता। दरअसल इस चयन की पीड़ा और मुक्ति की दुर्लभता के पीछे

नाटककार की अस्तित्ववादी जीवन दृष्टि है जो प्रच्छन्न रूप से नाटक में आद्यन्त विद्यमान है।

इस नाटक की एक अन्य विशेषता समकालीन जीवन में कामकाज़ी स्त्री की दोहरी भूमिका की समस्या को चित्रित करना है। नाटक में राकेश ने आधुनिक नारी की बहुमुखी आकांक्षा को चित्रित करते हुए घर और कार्यक्षेत्र की उसकी दोहरी जिम्मेदारी की समस्या को भी उठाया है। स्त्री-पुरूष संबंधों में लगाव और तनाव भी एक सार्वभौमिक एवं सार्वजनीन सत्य है जिसे राकेश ने इस नाटक में उधेड़ा है। इस प्रकार आधे-अधूरे समकालीन जिन्दगी को यथार्थवादी एवं विश्वसनीय ढंग से प्रस्तुत करता है एवं आज के जीवन के एक सघन अनुभव खंड को मूर्त करता है।

(vii) पैर तले की जमीन में अभिव्यक्त आधुनिक भावबोध :

राकेश का अंतिम और अपूर्ण नाटक है - पैर तले की जमीन, जिसका सिर्फ प्रथम अनुवर्तन राकेश ने लिखा। दूसरा अनुवर्तन उनके नोट्स, दृश्यबंध के रेखाचित्रों और आधे-अधूरे संवादों के आधार पर उनके मित्र एवं सुप्रसिद्ध कथाकार कमलेश्वर द्वारा पूरा किया गया। यह नाटक भयानक बाढ़ में फँसे काश्मीर के एक क्लब में विभिन्न वर्गों और मानसिकताओं के स्त्री-पुरूषों के पारस्परिक संबंधों को दर्शाता है। आसन्न मृत्यु के सामने किस प्रकार व्यक्ति पहले पलायन का प्रयास करता है - कोई संगीत के माध्यम से तो कोई शराब या ताश के माध्यम से किन्तु जब पलायन संभव नहीं हो पाता तो लोगों के ऊपरी खोल और मुखौटे उतर आते हैं और वह अपने असली रूप में नज़र आते हैं। इस नाटक का केन्द्रीय सरोकार भी अस्तित्ववादी-चिंतन से प्रभावित है और यह मूलतः आधुनिक जीवन की विसंगति और अवसाद को उद्घाटित करता है। इस संबंध में प्रतिभा अग्रवाल की टिप्पणी उद्धृत है :

"पैर तले की जमीन भी आधुनिक जीवन की विसंगति, अवसाद एवं घुटन को लेकर लिखा गया नाटक है। इस नाटक की मूल प्रवृत्ति अस्तित्ववादी है, परिवेश घर से बाहर कश्मीर में एक टूरिस्ट क्लब है। पात्र सब अलग-अलग हैं तथापि नियति ने उस एक दिन के लिए उन्हें एक स्थल पर ला रखा है और अचानक भयंकर बाढ़ के कारण टूरिस्ट क्लब को शहर से जोड़ने वाला पुल टूटने लगता है और उनका संपर्क बाहर की दुनिया से कट जाता है। आसन्न मृत्यु की छाया में उन पात्रों की परिवर्तित मनोवृत्ति का बड़ा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण एवं चित्रण राकेश ने किया है। कुछेक घंटों के बाद बाढ़ के पानी के कम होने की सूचना मिलती है, टेलीफोन की घंटी बज उठती है, जीवन के बचने का आश्वासन मिलता है, सब पुनः पहले की मनःस्थिति को प्राप्त होते हैं।"[44]

ऐसा प्रतीत होता है कि इस नाटक में मोहन राकेश ने समकालीन समाज के विभिन्न वर्गों के चरित्रों के जीवन की विडम्बना और विसंगति को चित्रित करना चाहा

था इसीलिए इस नाटक में मध्यवर्गीय स्त्री-पुरूषों के अतिरिक्त उच्चवर्गीय व्यापारी, दलाल, राजनैतिक कार्यकर्ता और अफसर, निम्नवर्गीय बार-मैन, चपरासी, बेयरा, क्लर्क और उसकी माँ आदि भी शामिल हैं। यद्यपि समग्र रूप से देखने पर इस नाटक में रचनाकार की राजनीतिक-सामाजिक चेतना पूरी तरह मुखर नहीं हो पाती फिर भी स्वातंत्र्योत्तर भारतीय जीवन की मूल्यहीनता एवं दोगलेपन के संकेत मिलते हैं। झुनझुनवाला उस भ्रष्ट पूँजीपति वर्ग का प्रतिनिधि चरित्र हैं जो स्वाधीन भारत में सर्वाधिक फले-फूले। उसके चरित्र के माध्यम से राकेश ने पूँजीपति वर्ग की कुत्सित मानसिकता का प्रभावशाली अंकन किया है। इसी प्रकार अब्दुल्ला का संवाद निम्न मध्यवर्गीय व्यक्ति में पैदा हुए बेकारी के भाव को अभिव्यक्त करता है।

"शफी साहब का यह पहला साल है ठेके का, और अगर उसी साल उन्हें घाटा उठाना पड़ा तो .. .. तो अगले साल अपने पर वही बेकारी आ जाएगी। चार साल बेकार रहने के बाद इस साल सफी साहब की मेहरबानी से यह नौकरी मिली थी - अब आगे इसका भी पता नहीं कि रहेगी या नहीं।"[45]

उपरोक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि नाटककार ने समकालीन जीवन की अनेक समस्याओं - बेकारी, मूल्यों के विघटन, पूँजीपति वर्ग की अवसरवादिता इत्यादि को इस नाटक में अभिव्यक्त किया है। इसके अतिरिक्त चुनाव की पीड़ा, अकेलापन एवं मानवीय संतोष के अधूरेपन को भी इसमें उद्घाटित किया गया है, जो राकेश के संपूर्ण कथा साहित्य में देखने को मिलता है। चिन्तन के धरातल पर यह अस्तित्ववादी जीवन-दृष्टि है जो राकेश की रचनाओं में प्रच्छन्न रूप से विद्यमान हैं। कुछ उद्धरण द्रष्टव्य हैं :

"फिर वही उतरती हुई रात और वही आवाजें - झींगुरों, झिल्लियों और मेढकों की। वही एक आदम-सी दहशत। वही अकेलापन और वही अपने-आपसे सामना।"[46]

"कहने को सब कुछ है - घर है, बीवी है, दो बच्चे हैं, फिरभी मैं जानता हूँ कि यह सारा ताना-बाना एक न चाहते मन के चारों तरफ बुना गया है, हालाँकि बुनने वाले सिर्फ दूसरे ही नहीं है, मैं भी हूँ।"[47]

(viii) निष्कर्ष एवं मूल्यांकन :

इस प्रकार मोहन राकेश के सभी नाटकों के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके माध्यम से रचनाकार ने मूलतः अपने समय और समाज को आंदोलित करनेवाली समस्याओं को उठाया है। स्वातंत्र्योत्तर भारत की मानव विरोधी परिस्थिति और उसके बीच जीवन बसर कर रहे सामान्य मनुष्य की हताशा, मोहभंग एवं अकेलेपन की मनःस्थिति को उन्होंने अत्यंत प्रामाणिक रूप से अभिव्यक्त किया है। इसके साथ ही इन नाटकों में राजसत्ता की विवेकहीनता, मध्यवर्ग के दोहरे मानदंड,

युवावर्ग में व्याप्त हिंसा और आक्रोश की भावना तथा आर्थिक बदहाली एवं उपभोक्तावादी संस्कृति के दबाव में टूटते परिवार की त्रासदी को भी अत्यंत प्रभावशाली ढंग से अंकित किया गया है। इन नाटकों में मध्यवर्गीय जीवन की सांस्कृतिक रिक्तता, विकृत रुचियों, भ्रांतियों एवं दोगली नैतिकता का भी निर्ममतापूर्वक अनावरण किया गया है। यद्यपि राकेश के प्रारंभिक दो नाटक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित हैं, लेकिन उनमें भी ऐतिहासिक कथा सिर्फ आश्रय मात्र है उनका बुनियादी सरोकार समकालीन मानव-जीवन की समस्याओं को ही चित्रित करना है। लेकिन अपने समय और समाज से गहरे रूप से जुड़े होने के बावजूद ये रचनाएँ खबर या रपट की तरह समस्याओं का ब्यौरा पेश नहीं करती, बल्कि उन्हें रचनात्मक एवं संश्लिष्ट रूप में प्रस्तुत करती हैं। इसके अलावा राकेश ने अपने नाटकों में उन प्रश्नों को मुखर रूप से अभिव्यक्त किया है, जो विराट मानव-जीवन को प्रत्येक युग में प्रभावित करते रहे हैं। इस प्रकार ये प्रश्न समकालीन भी हैं और सार्वकालिक भी, देशी भी हैं और विश्वात्मक भी। अपने समय और समाज में जीती हुई ये रचनाएँ देशकाल की सीमा का अतिक्रमण भी करती हैं और इस प्रकार कई स्थलों पर सार्वदेशिक और सार्वकालिक भी बन जाती हैं। राकेश के नाटकों की इस विशेषता को रेखांकित करते हुए प्रसिद्ध रंगकर्मी रामगोपाल बजाज ने लिखा है :

"मेरा यह निजी तौर पर मानना है कि साहित्य अथवा कला समसामयिक होते हुए भी व्यापक प्रश्नों को उठाती है और उस दृष्टि से राकेश का कथा साहित्य एवं नाटक तात्कालिक आटे-दाल के भाव, मँहगाई या दलबदल की राजनीति का साहित्य नहीं है।"[48]

संदर्भ सूची :

1 समाज और साहित्य : मुक्तिबोध रचनावली, भाग-5 संपादक : नेमिचन्द्र जैन : पृ.66

2 साहित्य और संस्कृति : मोहन राकेश पृ. 53-54

3 साहित्य और संस्कृति : मोहन राकेश (आधुनिकता के तत्व बनाम भारतीयता के तत्व), पृ. 119-20

4 विकलांक श्रद्धा का दौर : हरिशंकर परसाई, कैफियत

5 साहित्य और संस्कृति : मोहन राकेश (डॉ. कार्लो कपोला और मोहन राकेश) पृ. 135

6 उपरोक्त : पृ. 139

7 उपरोक्त : पृ. 150

8 आषाढ़ का एक दिन लेखकीय, (स्मारिका - मोहन राकेश नाट्य समारोह, 3-20 दिसम्बर 1992) पृ. 35 से उद्धृत

9 आषाढ़ का एक दिन : मोहन राकेश, पृ. 68-69

10 उपरोक्त : पृ. 100-101

11 आजकल, (नादिन गार्डिमर : हमारी शताब्दी) मई 1996 पृ. 11

12 आषाढ़ का एक दिन : मोहन राकेश, पृ. 102

13 साहित्य और संस्कृति : मोहन राकेश (डॉ. कार्लो कपोला और मोहन राकेश) पृ. 132-133

14 आषाढ़ का एक दिन : मोहन राकेश, पृ. 99-100

15 उपरोक्त : पृ. 32

16 उपरोक्त : पृ. 32

17 उपरोक्त : पृ. 94

18 उपरोक्त : पृ. 18

19 आषाढ़ का एक दिन लेखकीय, (स्मारिका - मोहन राकेश नाट्य समारोह, 3-20 दिसम्बर,1992) पृ. 35 से उद्धृत

20 साहित्य और संस्कृति : मोहन राकेश : (मोहन राकेश : बासु भट्टाचार्य की दृष्टि में) पृ.165

21 लहरों के राजहंस, लेखकीय, (मोहन राकेश नाट्य समारोह स्मारिका - 3 दिसम्बर, 20 दिसम्बर-92 पृ. 79)

22 तं गौरवं बुद्धगतं चकर्ष भार्यानुरागः पुनराचकर्ष।

सोऽनिश्चयान्नापिययौ न तस्थौ तरंस्तरंगेष्विव राजहंसः।

लहरों के राजहंस की भूमिका : डॉ. सुरेश अवस्थी - पृ. 1

23 मानव मूल्य और साहित्य, डॉ. धर्मवीर भारती, भूमिका, पृ. 1-2

24 But during the last few years things have changed at an unimaginable pace. Every morning you get the horrible feeling of being left behind. And it is this change and hastened pace of life which has brought about a revolution not only in our surroundings but also in our relationship with them. A lot has happened in just one decade what is of prime concern to me today is my constantly breaking and re-establishing a relationship with this fast changing reality.

Changing role of words in theatre, Mohan Rakesh and Mohan Mahirshi - Enact 73-74

25 साहित्य और संस्कृति : मोहन राकेश (डॉ. कार्लो कपोला और मोहन राकेश) पृ. 154

26 मानव मूल्य और साहित्य : डॉ. धर्मवीर भारती (अंतरात्मा के ध्वंसावशेष) पृ. 3

27 लहरों के राजहंस, मोहन राकेश, पृ. 121-122

28 उपरोक्त : पृ. 64

29 आषाढ़ का एक दिन : मोहन राकेश, पृ. 110-111

30 मोहन राकेश की रंगसृष्टि, श्री जगदीश शर्मा - (मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक, संपादित - श्री नेमिचन्द्र जैन - पृ.466-67)

31 लहरों के राजहंस : मोहन राकेश, पृ. 29

32 लहरों के राजहंस : मोहन राकेश, पृ. 37-38

33 लहरों के राजहंस : लेखकीय, पृ. 20

34 चन्द सतरें और की भूमिका : सतरों पर सतरें - डॉ. इन्द्रनाथ मदान, पृ.8

35 साहित्य और संस्कृति : मोहन राकेश, (आधुनिकता के तत्व बनाम भारतीयता के तत्व) : पृ. 118

36 आधे-अधूरे - पृ. 49

37 मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक, संपादित नेमिचन्द्र जैन, पृ. 341

38 आधे-अधूरे - मोहन राकेश, पृ. 74

39 मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक, संपादित नेमिचन्द्र जैन, पृ. 341

40 आधे-अधूरे - मोहन राकेश, पृ. 89

41 आधे-अधूरे - लेखकीय - (स्मारिका, मोहन राकेश नाट्य समारोह 3, दिसम्बर, 1992 पृ. 37)

42 आधे-अधूरे - निर्देशक का वक्तव्य :, ओम शिवपुरी, पृ. 6-7

43 आधे-अधूरे - मोहन राकेश, पृ. 92

44 मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक, संपादित नेमिचन्द्र जैन, पृ. 450

45 पैर तले की जमीन : मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक, संपादक - नेमिचन्द्र जैन पृ. 369

46 उपरोक्त : पृ. 394

47 उपरोक्त : पृ. 395

48 आषाढ़ का एक दिन : निर्देशकीय, राम गोपाल बजाज (मोहन राकेश नाट्य समारोह 3-20 दिसम्बर, 1992 पृ. 35)